मिर्ज़ा ग़ालिब

राष्ट्रीय जीवन-चरित माला

मिर्ज़ा ग़ालिब

मालिक राम

अनुवादक

श्रीकान्त व्यास

नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया

पहला संस्करण 1969 (शक 1890)
पांचवीं आवृति 1990 (शक 1912)

रु. 7.00

Mirza Galib (*Hindi*)

निदेशक, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, ए-5 ग्रीन पार्क, नयी दिल्ली-110 016 द्वारा प्रकाशित।

विषय-सूची

अध्याय		पृष्ठ
1.	भूमिका 1; परिवार 2; शिक्षा और आरम्भिक वर्ष 4; दिल्ली में आगमन 6; उर्दू भाषा 7; एक शायर के रूप मे शुरुआत 7; पैंशन का झगडा 10; एक प्रेम-प्रसंग 10; पैंशन का मुकदमा 12; कलकत्ता की यात्रा 13; कलकत्ता में साहित्यिक विवाद 14; कलकत्ता का सास्कृतिक प्रभाव 15; शम्सुद्दीन अहमद खां का अन्त 16; मुग़ल दरबार से सम्बन्ध 17; उर्दू 'दीवान' 19; आर्थिक कठिनाई 19; दिल्ली कॉलेज काण्ड 19; जुआ के लिए जेल की सजा 20; दरबारी इतिहासकार 22; ग़दर 23; 'सिक्के का आरोप 26. रामपुर से सम्बन्ध 27; 'दस्तन्बू' 28; काति' बुरहन 29; दरबारी शायर 30; साहित्यिक लोकप्रियता 32; रामपुर की यात्रा 32; सम्मान की पुन. प्राप्ति 32; कल्बअली खां 34; देहान्त 36.	1
2.	गालिब की कला 38; चुने हुए शे'र: ईश्वर 40; धर्म 41, रहस्यवाद 42; जीवन 43; मानव 45; जीवनदर्शन 46; प्रेम 48; खुदी 52; बहार 55. वसीयत 55; विविध 56।	64

1

भूमिका

जब काबुल के शाह बाबर ने भारत पर आक्रमण किया उस समय अधिकांश उत्तर भारत पर इब्राहीम लोदी का राज था। इब्राहीम के ही कुछ असन्तुष्ट दरबारियों ने बाबर को अपनी सहायता के लिए आने और लोदी वंश के इस आखिरी बादशाह का तख्ता उलटने के लिए बुलावा भेजा था। भारत के उपजाऊ और सम्पन्न मैदानी इलाकों पर बाबर की निगाहें पहले से ही लगी थीं, और वह अपने चटियल पहाडी राज की असुविधापूर्ण राजधानी से इधर आने के लिए किसी अनुकूल अवसर की तलाश में था। जब उसे यह सुखद आमंत्रण मिला तो उसने फौरन इसे स्वीकार कर लिया। वह अपने मुट्ठी-भर सैनिकों के साथ सीमा पार करके भारत में घुस आया। इब्राहीम लोदी की सेना के साथ उसकी निर्णायक लड़ाई पानीपत में 21 मार्च 1526 को हुई। इब्राहीम की सेना हार गई और वह खुद भी लड़ाई में मारा गया। इस प्रकार पानीपत में उस दिन भारत में मुगल साम्राज्य का शिलान्यास हुआ।

पानीपत में हुई जीत हालांकि निर्णायक थी फिर भी उसे भारत की पराजय नहीं माना जा सकता। बाबर इसके बाद लगभग चार साल ही जीवित रहा, और उसका अधिकाश समय छोटे-छोटे राजाओं और जागीरदारों से लड़ने में ही बीता। जब 1530 में उसकी मृत्यु हुई और उसका सबसे बडा लड़का हुमायूं गद्दी पर बैठा तो यह नव-स्थापित साम्राज्य अभी न तो दृढ़ हो पाया था और न सुरक्षित। हुमायूं को लगातार विपरीत परिस्थितियों का सामना करना पड़ा और अन्त में उसे इस देश से भागकर ईरान में शरण लेनी पड़ी। उसकी अनुपस्थिति में शेरशाह सूरी ने एक नये राजवंश की स्थापना की, जो उसके उत्तराधिकारियों की दुर्बलता और अयोग्यता के कारण ज्यादा दिन नहीं टिक सका। इस बीच हुमायूं अपने खोये हुए राज्य को वापस लेने के लिए ईरान के शाह से सैनिक सहायता प्राप्त करने में सफल हो गया। वह अपनी ईरानी सेना के साथ 1555 में भारत लौटा। उसने सलीम शाह को, जो शेरशाह सूरी के बाद 1545 में गद्दी पर बैठा था, बुरी तरह पराजित किया और भारत के राजसिंहासन पर फिर से कब्ज़ा कर लिया। इस बार यह एक स्थायी विजय सिद्ध हुई; इस देश में मुगल शासन अगले 300 वर्षों तक लगातार कायम रहा।

हुमायूं के बाद उसका पुत्र अकबर 1556 में गद्दी पर बैठा। वह इंग्लैंड की महारानी एलिज़ाबेथ प्रथम का समकालीन था। ये दोनों ही बहुत सफल शासक सिद्ध हुए, और दोनों अपनी स्थायी उपलब्धियों के लिए उल्लेखनीय हैं। अकबर का लगभग आधी शताब्दी का शासनकाल भारतीय इतिहास के सबसे शानदार युगों में माना जाता है। भारत ने जीवन के सभी क्षेत्रो में प्रगति की। देश में शान्ति और समृद्धि का वातावरण रहा तथा विदेश में प्रतिष्ठा और लोकप्रियता की प्राप्ति हुई। आगरा का शाही दरबार ईरान और पश्चिमी एशिया के अन्य देशों के सभी प्रकार के सफलताकामियों—विद्वानों और लेखकों, योद्धाओं और राजनयज्ञों आदि के लिए तीर्थ बन गया, और शीघ्र ही अकबर की प्रसिद्धि यूरोप तक पहुच गई। इस प्रकार नवागतों का एक सिलसिला-सा बन गया, जिसका परिणाम यह हुआ कि भारतीय समाज के राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन में नये रक्त का संचार होता रहा और विकास की गति बराबर बनी रही।

अकबर के बाद साम्राज्य की भौतिक समृद्धि अगली पीढियों तक लगातार जारी रही लेकिन

औरंगज़ेब के शासनकाल में ख़ासी गड़बडी नजर आने लगी, हालांकि कमज़ोरी के चिह्न बहुत पहले, अकबर की मृत्यु के शीघ्र बाद उसके लड़के जहांगीर के शासनकाल में ही प्रकट होने लगे थे। जहाँगीर, शाहजहा या औरंगज़ेब किसी के भी सिर किसी बडी सैनिक सफलता का सेहरा नहीं बांधा जा सकता। औरंगज़ेब के शासनकाल में ही साम्राज्य की शक्ति का ह्रास इस हद तक पहुच चुका था कि ख़ुद बादशाह को अपने जीवन के अंतिम बीस वर्ष दक्षिण के युद्ध क्षेत्रो में बिताने पड़े और वहां से वह कभी वापस नहीं लौट सका। फरवरी 1707 में अहमदनगर मे उसकी मृत्यु हो गई। अगले 150 वर्षो में शाही परिवार का सितारा बराबर डूबता ही चला गया, जबकि अन्त मे 1857 में अंतिम मुग़ल बादशाह बहादुरशाह द्वितीय को अंग्रेज़ों ने गद्दी से उतार दिया और बंदी बनाकर रंगून भेज दिया। इस देश में मुग़लों की शक्ति को पहली गम्भीर चोट पहुंचायी ईरान के बादशाह नादिरशाह ने, जिसने भारत पर आक्रमण किया और यहां की सेनाओं को हराने के बाद 1739 में शाही राजधानी पर कब्ज़ा कर लिया और उसे खूब लूटा। इस चोट से देश अभी संभल नहीं पाया था कि 1761 में अहमदशाह अब्दाली अपनी सेनाओं को लेकर चढ़ आया और उसने भी नादिरशाह की तरह लूटमार की। इसके बाद मुग़ल राजवंश लगभग एक शताब्दी तक और कायम रहा, लेकिन शाही दबदबा कम होता चला गया और अत मे केवल दिल्ली तक सीमित रह गया। धीरे-धीरे, साम्राज्य के सुदूरस्थित प्रदेश स्थानीय सरदारों की अधीनता में एक-एक करके अपने को स्वतन्त्र घोषित करने लगे, जबकि इन सरदारों को कभी स्वय बादशाह ने सूबेदार या सेनापति बनाकर वहां भेजा था।

परिवार

दिल्ली-स्थित मुगल दरबार अपने अन्तिम दिनो में इस स्थिति मे नही रह गया था कि किसी विदेशी को कोई आकर्षक रोज़ी या सम्मान का पद और आश्रय प्रदान कर सके। इसका परिणाम यह हुआ कि समृद्धि के आकांक्षियो और किस्मत आज़मानेवालों का आना-जाना बहुत-कुछ कम हो गया और अन्त में नाममात्र हो रह गया। अवनति के इस दौर में हमें भाड़े पर काम करनेवाले कुछ ऐसे लोग नज़र आते हैं जो सबसे ज़्यादा पैसे देनेवाले की सेवा के लिए या उसके वास्ते लड़ने-मरने को हमेशा तैयार रहते थे। एक ऐसा ही किस्मत आज़मानेवाला तुर्क सैनिक था कुक़ानबेग खाँ, जो अठारहवी शताब्दी के मध्य में समरकन्द से भारत आया था। ऐसे सकेत मिलते हैं कि यह ख़ासे मेलजोलवाला आदमी था और उसका संबंध ऐसे सम्मानित परिवार से था जिसने कभी अच्छे दिन देखे थे। पहले वह पजाब के गवर्नर मोइनुल्मुल्क के यहाँ रहा। कुछ समय तक लाहौर में रहने के बाद वह दिल्ली चला आया और ज़ुल्फेकारुद्दौला मिर्ज़ा नजफ खां का आश्रित हो गया। उसी की सिफारिश पर वह शाहआलम द्वितीय का नौकर हुआ। बादशाह ने उसे 50 घुडसवारों का नायक बना दिया, और इसके साथ ही उसे पिहासू (ज़िला बुलन्दशहर) की उपजाऊ जागीर भी सौंप दी ताकि वह अपना और अपने सैनिकों का खर्च चला सके। नौकरी की ये शर्तें कोई बहुत आकर्षक नहीं थीं। इसके अलावा, उसके जैसे महत्वाकांक्षी आदमी के लिए यहां उन्नति की सम्भावना भी नहीं थी। इसलिए अपनी स्थिति मे असन्तुष्ट होकर उसने शाही नौकरी छोड दी, और वह जयपुर के महाराजा की सेना मे नौकर हो गया। यह तो पता नहीं कि वह जयपुर की नौकरी मे कब तक रहा, लेकिन कुछ समय बाद ही हम देखते है कि वह आगरा मे आ बसा।

कुक़ानबेग ख़ाँ का परिवार काफ़ी बड़ा था जिसमें से हमें केवल उसके दो पुत्रो के नाम मालूम हैं—अब्दुल्लाबेग ख़ाँ और नसरुल्लाबेग ख़ां। अपने पिता की तरह उन दोनो ने भी सैनिक का पेशा अपनाया। छोटे पुत्र नसरुल्लाबेग ख़ां ने मराठों की नौकरी कर ली और धीरे-धीरे उन्नति करते हुए वह ग्वालियर के महाराजा के वेतनभोगी एक फ्रांसीसी जनरल पेरों के मातहत आगरा किले का किलेदार बन गया। अब्दुल्लाबेग खा इतना ख़ुशकिस्मत नहीं था। वह पहले लखनऊ गया। यह उस समय की बात है जब आसफ़ुद्दौला (1775-1797) नवाब वज़ीर था। स्पष्ट है कि वहां भी उसे जमने का मौका नहीं मिला और जल्दी ही हैदराबाद चले जाना पडा, जहा उस समय नवाब निज़ाम अली खा का राज था। वहां उसे एक छोटा-सा ओहदा मिल गया। वह दक्खिन में कई साल रहा। बाद में निज़ाम के दरबारी रईसों के कुछ आपसी झगड़ों के कारण उसकी यह नौकरी भी जाती रही। इसके बाद वह अलवर चला आया और महाराव बख़्तावरसिंह (1791-1803) के मातहत काम करने लगा। दुर्भाग्यवश, कुछ ही समय बाद एक स्थानीय विद्रोह को दबाने के लिए भेजा गया और वहीं वह मारा गया। ग़ालिब ने अपने एक पत्र में इन घटनाओं का विवरण दिया है। उन्होंने लिखा है :

"मेरे दादा के इन्तक़ाल के बाद जो तवाइफ़ुलमुलुक का हंगामा गर्म था वह इलाक़ा (जागीर परगना पिहासू) न रहा। बाप मेरा अब्दुल्लाबेग खानबहादुर लखनऊ जाकर नवाब आसिफ़ुद्दौला का नौकर रहा। बाद चन्द रोज, हैदराबाद जाकर नवाब निज़ामअली खां का नौकर हुआ। 300 घुड़सवारों की जमीअत से मुलाज़िम रहा। कई बरस वहां रहा। वह नौकरी एक ख़ाना जंगी के बखेड़े में जाती रही। वालिद ने घबराकर अलवर को क़स्द किया। रावराजा बख़्तावरसिंह का नौकर हुआ, और वहां किसी लड़ाई में मारा गया।"

अब्दुल्लाबेग ख़ां की शादी मुग़ल सेना के एक अवकाशप्राप्त सेनानायक ग़ुलाम हुसैन ख़ां के परिवार मे हुई थी। मृत्यु के समय उनकी तीन सन्ताने थी—एक पुत्री और दो पुत्र। पुत्रों में से बड़े थे हमारे मशहूर शायर ग़ालिब, जिनका मूल नाम था असदुल्लाबेग खां। उनका जन्म आगरा में 27 दिसम्बर 1797 को हुआ था। उनके छोटे भाई यूसुफ़अली ख़ा उनसे दो साल छोटे थे, बहन दोनों से बडी थीं। अब्दुल्लाबेग ख़ा की मृत्यु के पहले भी परिवार आगरा मे ही रह रहा था क्योंकि अब्दुल्लाबेग ख़ां के घुमक्कड जीवन के कारण ये लोग कहीं भी उनके साथ नहीं रह सकते थे। इसीलिए ग़ालिब की माता बराबर आगरा में ही अपने मां-बाप के साथ रही। गालिब की ननिहाल के लोग काफ़ी सम्पन्न थे और उनके पास ख़ासी बडी जायदाद थी जिसका कुछ अंश अब भी मौजूद है। 1802 मे अब्दुल्लाबेग खा की मृत्यु के बाद जब गालिब मुश्किल से चार वर्ष के थे, उनका परिवार उनके ताऊ नसरुल्लाबेग खा के सरक्षण में आ गया।

यह वह समय था जब उत्तर भारत में अंग्रेजों की शक्ति बड़ी तेजी से बढ रही थी—वे लोग बड़े और छोटे राज्यों और रियासतो को ख़त्म करते जा रहे थे तथा अपने प्रभाव और आधिपत्य का दायरा बढाते चले जा रहे थे। अंग्रेज़ों का प्रधान सेनापति लार्ड लेक 1803 में जब आगरा पहुंचा तो उस समय नसरुल्लाबेग खा वहा के किले के नायक थे। उन्होने अपने साले नवाब अहमदबख़्श ख़ा के कहने पर कोई विरोध नही किया और किला लार्ड लेक को सौंप दिया। इस सेवा के बदले उनको अंग्रेज़ो ने अपने अधीन 400 घुड़सवारों का नायक नियुक्त कर दिया तथा उनके और उनके सैनिको के खर्च के लिए 1700 रुपये मासिक का वेतन बाँध दिया। बाद मे नसरुल्लाबेग ने भरतपुर के पास के सोंक और सूसा के दो ज़िलों पर कब्ज़ा कर लिया, जो उस

समय इन्दौर राज्य के अन्तर्गत थे। जब लार्ड लेक को इसका पता चला तो उसने खुश होकर ये दोनों ज़िले नसरुल्लाबेग खां को जीवन भर के लिए इनाम में दे दिए। स्वाभाविक था कि इससे उनके स्वर्गीय भाई के परिवार के लिए, जो अब उनका आश्रित था, कुछ आराम की ज़िन्दगी का इन्तज़ाम हो गया। दुर्भाग्यवश वह स्थिति अधिक दिनों तक नहीं चल सकी। सन् 1806 में एक दिन नसरुल्लाबेग खां हाथी पर से गिर पड़े और उन्हें इतनी चोट आई कि उनकी मृत्यु हो गई। उनकी इस अकाल मृत्यु से ग़ालिब का परिवार दूसरी बार बेसहारा हो गया और उसका कोई संरक्षक नहीं रह गया।

इस समय तक नवाब अहमदबख्श खां फ़िरोज़पुर झिरका और लोहारू की दो छोटी रियासतों के शासक बन गए थे। इन रियासतों में से पहली उन्हें अंग्रेज़ों से और दूसरी अलवर के महाराव बख़्तावरसिंह से इनाम में मिली थीं। नवाब ने स्वर्गीय नसरुल्लाबेग खां के साथ के अपने सम्बन्धों का ख़्याल करके इन बच्चों को अपनी देखभाल में रख लिया। उन्होंने लार्ड लेक से कुछ कह-सुनकर स्वर्गीय नसरुल्लाबेग खां के परिवार के भरणपोषण के लिए 10,000 रुपये वार्षिक की पेंशन भी स्वीकृत करवा ली। लेकिन ताज्जुब है कि एक महीने बाद ही उन्होंने न मालूम कैसे एक दूसरा आदेश जारी करवा लिया, जिसके अनुसार पेंशन की राशि 10,000 रुपये से घटकर 5,000 रुपये वार्षिक ही रह गई। यहीं नहीं, उन्होंने पेंशन का बंटवारा भी इस प्रकार स्वीकृत करवाया कि एक किसी ख़्वाजा हाजी को 2,000 रुपये वार्षिक का सबसे बड़ा हिस्सा मिला, और बाकी का हिस्सा परिवार के शेष छः सदस्यों के नाम तय हुआ। इसमें से ग़ालिब के हिस्से में कुल 750 रुपये वार्षिक की मामूली-सी रकम आई।

ग़ालिब की माता अब भी अपने माता-पिता के साथ ही रह रही थीं। हमें ज्ञात नहीं कि उनके पिता की मृत्यु कब हुई। इस्लाम की रिवायतों के अनुसार लड़की को भी उसके पिता की मृत्यु के समय छोड़ी गई सम्पत्ति में से अपने भाइयों के साथ हिस्सा मिलता है। हालांकि इस नियम का सर्वत्र पालन नहीं होता, फिर भी कुछ मुस्लिम परिवारों में अब भी इसका पालन किया जाता है। इसलिए इस बात की सम्भावना मालूम होती हैं कि उन्हें अपने पिता गुलामहुसैन खां द्वारा छोड़ी गई सम्पत्ति में से अपना हिस्सा मिला होगा और यह काफी मात्रा में रहा होगा। इसलिए जब तक वे जीवित रही होंगी, ग़ालिब को पैसे की तंगी महसूस नहीं हुई होगी।

शिक्षा और आरम्भिक वर्ष

इस्लाम में आरम्भकाल से ही कुरान समस्त ज्ञान का केन्द्र रहा है। बच्चों के लिए नियत पाठ्यक्रम भी कुरान और अन्य धार्मिक शिक्षाओं को ध्यान में रखकर तैयार किए जाते थे। विद्यार्थियों को ऐसे ही विषय पढ़ाए जाते थे जो उनके लिए आगे चलकर अपने जीवन में धर्म की मूलभूत शिक्षाओं की सत्यता और उसकी खूबियों को उजागर करने में सहायक सिद्ध हो सकते थे। हर गांव और कस्बे में मस्जिद शिक्षा का केन्द्र होती थी। नमाज़ पढ़ाने वाला मौलवी अपने खाली समय में अध्यापक का काम भी करता था। पास-पड़ोस के बच्चे प्रतिदिन ठीक समय पर मस्जिद में जमा हो जाते थे और उन्हें मौलवी कुरान तथा अन्य धार्मिक ग्रन्थ पढ़ाता था। कुछ समय बाद, मदरसे भी स्थापित हुए, वहा अन्य विकसित और विशिष्ट विषय भी पढ़ाए जाने लगे। सभी मुस्लिम देशों में शिक्षा की यही प्रणाली प्रचलित थी।

जब मुसलमान भारत आए तो वे यह शिक्षा प्रणाली भी साथ लाए। यहां भी मोहल्ले की मस्जिद ही सामान्यतः मदरसे का काम देती थी। बच्चे मस्जिद में जमा हो जाते थे और मौलवी साहब ही उन्हें समस्त विषयों की शिक्षा देने वाले एकमात्र अध्यापक होते थे। ऐसे प्राथमिक मदरसों को 'मक्तब' कहा जाता था। यह प्रथा अब भी पूरी तरह से समाप्त नहीं हुई है और आज भी छोटे-छोटे गांवों में जारी है।

बाद में मुस्लिम समाज का अपेक्षाकृत धनी और प्रभावशाली वर्ग भी ज्ञान के प्रसार में सहायक हुआ। उदाहरणार्थ, यदि किसी धनी आदमी का लड़का जब मदरसे जाने की उम्र का हो जाता था तो उसका पिता उसे मक्तब में नहीं भेजता था क्योंकि वह इसे अपनी शान और इज्ज़त के खिलाफ़ समझता था कि उसका लड़का मस्जिद में नगर के दूसरे मामूली लड़कों के साथ बैठकर पढ़े। ऐसी स्थिति से बचने के लिए वह किसी खास मौलवी को घर आकर अपने लड़के को पढ़ाने के लिए तय कर लेता था। धीरे-धीरे उसके मित्रों और उसके जैसी सामाजिक स्थिति के दूसरे लोगों के बच्चे भी पढ़ने के लिए उसके घर जमा होने लगते थे और इस तरह से एक छोटा-सा स्कूल क़ायम हो जाता था। साधारण कोटि के स्कूल बहुत कम थे और जो थे भी, वे आम तौर से या तो सरकारी सहायता से चलते थे या किसी धार्मिक वक्फ़ द्वारा चलाये जाते थे। कभी-कभी कोई विद्वान या मौलवी अपने घर पर स्कूल खोल लेता था। वहां वह स्वयं अपने कुछ पढ़े-लिखे दोस्तों की सहायता से अध्यापन का काम करता था और ऐसे छात्रों को ज्ञान की शिक्षा देता था, जिनके माता-पिता उस पर विश्वास करके उसके यहां उन्हें पढ़ने के लिए भेज देते थे।

ग़ालिब की शिक्षा-दीक्षा के बारे में हमारा ज्ञान सीमित है। हमें इतना मालूम है कि उस समय मुहम्मद मुअज़्ज़म नामक एक प्रसिद्ध विद्वान ने आगरा में एक मदरसा चला रखा था। ग़ालिब को भी इस मदरसे में पढ़ने भेजा गया। उन दिनों फ़ारसी ही दरबारी भाषा तथा पत्र-व्यवहार और साहित्यिक गतिविधि का आम माध्यम थी। इसलिए सभी पाठ्य-पुस्तकों का फ़ारसी में होना स्वाभाविक था। ग़ालिब ने भी अपने स्कूली दिनों में केवल फ़ारसी पढ़ी। यह शिक्षा-प्रणाली इस शताब्दी के आरम्भ तक जारी रही। ऐसा माना जाता है कि अपने इस मदरसे में ग़ालिब ने फ़ारसी के कुछ पुराने लेखकों की गद्य रचनाओं का अध्ययन किया था। आरम्भिक कक्षाओं में अरबी की केवल प्राथमिक शिक्षा दी जाती थी। इसलिए ऐसा माना जाता है कि ग़ालिब को अरबी की केवल प्राथमिक शिक्षा प्राप्त हुई थी। वे इस मदरसे में सम्भवतः 12 वर्ष की उम्र तक रहे।

ग़ालिब ने लिखा है कि इसी समय के आसपास अब्दुस्समद नामक फ़ारस के एक विद्वान आगरा पहुंचे। अब्दुस्समद का लालन-पालन पारसी परिवार में हुआ था और अपने स्वाध्याय के कारण ही उन्होंने स्वेच्छा से इस्लाम क़बूल किया था। वे फ़ारसी और अरबी भाषाओं के माने हुए उस्ताद थे। स्वभावतः उन्होंने पारसी-धर्म और इस्लाम का भी गहरा अध्ययन किया होगा। हमारे नौजवान शायर पर इस विद्वान यात्रा का गहरा प्रभाव पड़ा। ग़ालिब ने उनको लगभग दो वर्ष (1810-12) अपने घर में ही रहने के लिए राज़ी कर लिया था। इस बीच उन्होंने अपने इन उस्ताद की देख-रेख में विद्याध्ययन किया और इतना ज्ञान प्राप्त कर लिया कि वह उनके शेष जीवन के लिए पर्याप्त सिद्ध हुआ। सन् 1812-13 में दोनों साथ ही आगरा से दिल्ली आए। ग़ालिब तो यहां स्थायी रूप से बसने के लिए आए थे और अब्दुस्समद अपने इस शिष्य

और नौजवान दोस्त को अलविदा कहने के लिए यहां तक आए। ग़ालिब ऐसे योग्य और कर्त्तव्यनिष्ठ शिष्य सिद्ध हुए कि जब उनके गुरू भारत से चले गए, तब भी वे उन्हें बराबर पत्र लिखते रहे।

दिल्ली आगमन

हमें यह ज्ञात नहीं कि ग़ालिब को आगरा छोड़कर स्थायी रूप से दिल्ली में बसने की प्रेरणा किससे मिली। शाहजहां के समय तक आगरा मुग़ल साम्राज्य की राजधानी था। शाहजहां ने ही दिल्ली में लाल क़िला बनवाया था और फिर वह सन् 1646 में अपनी राजधानी आगरा से दिल्ली ले आया था। आगरा इसके बाद भी साम्राज्य का एक महत्त्वपूर्ण नगर बना रहा। लेकिन वह अब दिल्ली से मुकाबला नहीं कर सकता था। इसलिए बहुत संभव है कि दिल्ली की केन्द्रीय स्थिति ने ग़ालिब को आकर्षित किया और उन्होंने इसी नगर में स्थायी रूप से बस जाने का निर्णय कर लिया हो। परन्तु इसके अलावा एक और कारण भी हो सक़ता है। अगर 1810 में जब कि उनकी आयु 13 वर्ष की थी, उनका विवाह फिरोज़पुर झिरका और लोहारू के नवाब अहमदबख़्श ख़ां के छोटे भाई इलाहीबख़्श की लड़की के साथ हुआ था। ये लोग दिल्ली में रहते थे और सम्भव है कि उन्होंने ग़ालिब को दिल्ली आने और यहां बसने के लिए राज़ी किया हो।

लोहारू के शासकवंश की स्थापना नवाब अहमदबख़्श ख़ां ने की थी। ऐसे संकेत मिलते हैं कि नवाब अहमदबख़्श के पिता मिर्ज़ा आरिफ़जान अपने दो भाइयों के साथ 18वीं शताब्दी के मध्य में उसी समय भारत आए थे, जब ग़ालिब के पितामह क़ुक़ानबेग ख़ां मध्य एशिया से यहां आए थे। हम पहले ही लिख चुके हैं कि नवाब अहमदबख़्श की बहन ग़ालिब के ताऊ नसरुल्लाबेग ख़ां से ब्याही गई थी। इससे यह भी पता लगता है कि सम्भवत: दोनों परिवारों में घनिष्ठ सम्पर्क रहा होगा, जिसको इन्होंने वैवाहिक सम्बन्ध के माध्यम से दृढ़ करने का निश्चय किया होगा।

आरम्भ में अहमदबख़्श ख़ां बड़े पैमाने पर घोड़ों का व्यवसाय करते थे। कुछ दिनों बाद वे ग्वालियर के महराजा के संपर्क में आए और उन्होंने अपना यह व्यवसाय छोड़ दिया। फिर भी वे अधिक दिनों तक महाराजा के साथ नहीं रहे और अलवर चले गए। बहुत जल्दी ही वे अलवर के शासक के विश्वासपात्र बन गए। वहां वे उन सेनाओं के सेनापति नियुक्त किए गए, जो मराठों के विरुद्ध लॉर्ड लेक के अभियान में सहायतार्थ भेजी गई थीं। अपनी वीरता और सूक्ष्म बुद्धि के कारण वे लॉर्ड लेक के इतने महत्वपूर्ण सहायक सिद्ध हुए कि वह भी उन पर पूरा भरोसा करने लगा। यहाँ तक कि जब कभी वह भारतीय राजाओं और उनके राज्यों के बारे में कोई निर्णय करता था तो अहमदबख़्श ख़ां से परामर्श लिए बिना नहीं करता था। जब 1803 में लॉर्ड लेक ने पश्चिमी उत्तर प्रदेश के विस्तृत भूभाग पर कब्ज़ा किया तो उसने फिरोज़पुर झिरका, पलवल, होडाल आदि के ज़िले अहमदबख़्श ख़ां को इनाम में दे दिए। इस अवसर पर बुलाए गए विशेष दरबार में अलवर महाराव भी उपस्थित थे और उन्होंने भी अहमदबख़्श ख़ां की सेवाओं के उपलक्ष में उन्हें लोहारू की रियासत इनाम में दे दी। इस प्रकार अहमदबख़्श ख़ां फिरोज़पुर झिरका और लोहारू के प्रथम शासक बने।

नवाब अहमदबख़्श ख़ां की राजधानी फ़िरोज़पुर में थी, लेकिन वे अपना अधिकांश समय दिल्ली में ही बिताते थे। दिल्ली को अंग्रेज़ों ने उत्तरी इलाक़ों के लिए अपना प्रशासनिक केन्द्र

बना रखा था। इलाहीबख्श खां एक जाने-माने शायर तो थे ही, धार्मिक क्षेत्रों में भी उनकी अच्छी ख़ासी पहुंच थी। वह 'मअ़रूफ' के उपनाम से उर्दू शायरी करते थे।

उर्दू भाषा

मुसलमानों और इस देश के निवासियों के बीच के गहरे सम्बन्धों के कारण उर्दू के विकास को बड़ा प्रोत्साहन मिला। किसी भी भाषा को अपना निश्चित रूप प्राप्त करने के लिए पहले विकास की कई मंज़िलों से गुजरना पड़ता है। यह प्रक्रिया उत्तर भारत में एक लम्बे समय से जारी थी और अब ऐसी स्थिति में पहुंच गई थी कि एक नई भाषा का आविर्भाव अवश्यंभावी हो गया। यह एक संयोग ही था कि ऐसे अवसर पर मुसलमान मंच पर आए। वे अपने साथ फारसी भाषा लाए, जो आर्य परिवार की ही एक भाषा थी और जिसके पीछे बड़ी सम्पन्न और महान साहित्यिक परम्परा थी और साथ ही जिसे विजेताओं की भाषा होने का अतिरिक्त गौरव भी प्राप्त था। स्वभावतः फ़ारसी को दरबारी भाषा का पद प्राप्त हो गया और वह धीरे-धीरे शिक्षित वर्गों तक फैलने लगी, क्योंकि उन्होंने अपने नये शासकों की कृपा और नौकरी प्राप्त करने के उद्देश्य से इसे ज़ोर-शोर से सीखना शुरू कर दिया। भाषा के क्षेत्र में काफ़ी लम्बे समय से जो उहापोह चल रहा था, उसने अब फारसी के प्रभाव और आघात से एक नई भाषा को जन्म दिया, जो कुछ समय बाद उर्दू के नाम से जानी जाने लगी। इस नई भाषा का आविर्भाव तो होना ही था, क्योंकि इसके जन्म की प्रक्रिया पूरी हो चुकी थी। केवल एक चिनगारी की ज़रूरत थी, और वह उन मुसलमानों के जरिये मिल गई, जो पूरे दल-बल के साथ उत्तर-पश्चिमी सीमाओं से प्रविष्ट हुए। यह नई भाषा अपने शब्द-भंडार, मुहावरों की रंगत और व्याकरण—प्रत्येक दृष्टि से मूलतः भारतीय थी। इसकी समस्त क्रियाएं भारतीय स्रोतों से उद्भूत थीं। मुसलमानों का योगदान इसकी लिपि तथा फ़ारसी शब्दों की थोड़ी-सी संख्या और कुछ ईरानी विचारों और मुहावरों तक ही सीमित था।

आरम्भ में इस भाषा का प्रयोग मुख्यरूप से मुस्लिम संतों द्वारा किए जाने वाले धार्मिक प्रवचनों और प्रचार तक सीमित रहा। उर्दू की आरंभिक गद्य और पद्य की रचनाएं नैतिक और आचारशास्त्रीय भावनाओं से भरी हैं। चूंकि अधिकांश लेखकगण फ़ारसी के भी पंडित थे, इसलिए वे फ़ारसी विचारों और विषयवस्तु का बहुत अधिक प्रयोग करते थे। समय के साथ इस भाषा ने अधिक स्पष्टता प्राप्त की तथा टकसाली फ़ारसी से काफी मात्रा में उधार लेने के कारण इसे अधिक व्यापक आधार भी मिला। इतना होने पर भी यह बिल्कुल कृत्रिम ही थी, क्योंकि भारत के वे शायर, जो फ़ारसी प्रयोगों और उपमाओं का इस्तेमाल कर रहे थे, कभी ईरान नहीं गए थे और उनकी सारी जानकारी फ़ारसी के शास्त्रीय ग्रन्थों पर ही आधारित थी। इस प्रकार उनकी शायरी शुद्ध कल्पना और कृत्रिमता से ही उद्भूत थी, तथा मीर और दर्द जैसे कुछ शायरों को छोड़ कर उर्दू के ज्यादातर शायरों ने मौलिकता और नये चिंतन के अभाव में इसी प्रकार लिखना जारी रखा।

एक शायर के रूप में शुरूआत

ग़ालिब ने जब आगरा में बहुत छोटी उम्र से जब वे मदरसे में ही पढ़ रहे थे तभी से शायरी करना शुरू कर दिया था। शुरू में वे भी फ़ारसी में ही लिखते रहे, लेकिन जल्दी ही उन्होंने उर्दू

को अपना लिया और फिर सिर्फ उर्दू में ही लिखा। शिक्षित वर्ग में अब उर्दू का प्रभाव और लोकप्रियता बढ़ती जा रही थी। जैसा कि हम देख चुके हैं, ग़ालिब की आरंभिक शिक्षा-दीक्षा अधिकांशतः क्लासिकी फ़ारसी में हुई थी। अब्दुस्समद साहब के संपर्क ने उन्हें फ़ारसी का विद्यार्थी और प्रेमी बना दिया था। बचपन से ही वे फ़ारसी के शौकत बुखारी, असीर और बेदिल जैसे शायरों के प्रति बहुत आकर्षित थे। ग़ालिब ने उर्दू में उनका अनुसरण आरम्भ किया। लेकिन उर्दू न सिर्फ एक नई भाषा थी, बल्कि अभी उसमें ऐसे प्रभावकारी शब्द-भंडार और पदविन्यास का भी अभाव था, जो उनके विचारों के अनुकूल होता। यह स्थिति विशेष रूप से उभर कर इसलिए भी सामने आती थी कि वे तब इन फ़ारसी शायरों की शायरी से, खासतौर से बेदिल की शायरी से, प्रेरणा ग्रहण कर रहे थे और बेदिल विषय और शैली दोनों की ही दृष्टि से फ़ारसी के शायद सबसे कठिन और मुश्किल से पकड़ में आने वाले शायर हैं। इसका परिणाम बहुत सुखद नहीं हुआ। ग़ालिब की आरंभिक शायरी अधिकांशतः ऐसी भाषा में बांधी गई है, जो यहां-वहां एकाध शब्द को छोड़कर पूरी फ़ारसी ही है। कई जगह तो ऐसा हुआ है कि किसी बहुत ही सामान्य और महत्वहीन विचार को ऐसी उलझी हुई ओर चक्करदार शैली में अभिव्यक्त किया गया है कि उसका कोई अर्थ ही नहीं निकलता। स्वाभाविक था कि इससे उनके समकालीनों ने उनकी बड़ी प्रतिकूल आलोचना की और उनकी रचनाओं को अर्थहीन घोषित कर दिया। यह आरोप काफी हद तक सही हैं। हमें उनकी जो आरम्भिक रचनाएं प्राप्त हो सकी हैं, उनमें से अधिकांश को समझ पाना कठिन है और उन्हें पढ़ते समय कई बार तो ऐसा लगता है कि जैसे खोदा पहाड़ और निकला चूहा।

लेकिन, सौभाग्य से, यह विरोध हमारे नौजवान शायर के जोश को ठंडा कर पाने में सफल नहीं हो सका। वे बिना निराश हुए निर्भयतापूर्वक अपनी उसी कठिन शैली में शायरी करते रहे। यदि कुछ लोग उनके विरोधी और आलोचक थे तो कुछ लोग ऐसे भी थे जो उनकी मौलिकता और उनके नये प्रयोगों के प्रशंसक थे। उनके ऐसे ही प्रशसक उनके नये प्रयोगों के प्रशंसक थे नवाब हुसामुद्दौला जो बड़े सज्जन पुरुष और खुद भी शायर थे। एक बार जब वे लखनऊ गए तो ग़ालिब की लिखी हुई कुछ उर्दू ग़ज़लें महाकवि मीर को दिखाने के लिए अपने साथ लेते गए। मीर तब बहुत बूढ़े हो चुके थे और आमतौर से घर पर ही रहते थे। ग़ालिब की ग़ज़लें देखकर उन्होंने व्यंग्यपूर्वक कहा कि अगर इस लड़के को रास्ता दिखाने के लिए कोई योग्य गुरू मिल जाए तो यह बहुत बड़ा कवि बन सकता है, वरना यह इसी तरह की निरर्थक बकवास लिखता रहेगा।

ग़ालिब का यद्यपि कोई उस्ताद नहीं था, लेकिन उनके कुछ सच्चे दोस्त जब भी कभी वे गलत रास्ते पर भटकते तो उन्हें सही रास्ता दिखाने का प्रयास करते थे। वे काफी मात्रा में लिखते थे, और मीर की कही हुई बात से यह सिद्ध होता है कि उन्हें बहुत छोटी आयु में ही पर्याप्त सफलता मिलती थी। हमें ज्ञात है कि मीर का देहान्त 20 सितम्बर 1810 को हुआ था, जब ग़ालिब अभी पूरे तेरह साल के भी नहीं हुए थे। और हमें यह भी ज्ञात है कि ग़ालिब ने दस या ग्यारह साल की छोटी उम्र में ही शायरी करना शुरू कर दिया था। दूसरे शब्दों में इसका अर्थ यह हुआ कि जब उनकी ग़जलें मीर को दिखाई गई थीं, तब उन्हें लिखते हुए दो या तीन साल हो चुके थे। उर्दू साहित्य में और विशेष रूप से उर्दू काव्य में मीर का स्थान अद्वितीय है। यह एक माना हुआ तथ्य है कि गजलगोई में वे अपनी मिसाल खुद आप ही हैं और उनके बाद होने वाले

सभी उस्तादों ने उनको एक लासानी शायर माना है। सबसे पहले तो यह बात ही काफी महत्वपूर्ण है कि किसी ने ग़ालिब की गज़लें मीर को दिखाने की हिम्मत की, क्योंकि मीर अपने समकालीनों से कितनी नफ़रत करते थे, यह किसी से छिपा नहीं है। वे अकेले शायर हैं, जिन्होंने शायद ही कभी किसी घटिया शायर या उसकी शायरी की परवाह की हो। नवाब हुसामुद्दौला खुद भी मीर के शार्गिद थे। मीर के शौक और मिजाज़ को भला उनसे अधिक और कौन जान सकता था। ग़ालिब की गज़लों को लेकर उनका मीर के पास जाना इस बात का प्रमाण है कि न सिर्फ वे खुद भी ग़ालिब की प्रतिभा के प्रशंसक थे, बल्कि उन्हें उसका भी विश्वास था कि मीर उनका कैसा स्वागत करेंगे। और फिर, मीर की टिप्पणी भी उनके अपने ख़ास अन्दाज़ में ही थी—उनके द्वारा किया गया ग़ालिब का ठीक-ठीक मूल्यांकन उनकी सूक्ष्म समीक्षा-बुद्धि का प्रमाण है।

उर्दू काव्य में 'उस्ताद' और 'शार्गिद' की परम्परा ईरान से आई। जब कोई नवयुवक लिखना आरम्भ करता था तो वह मार्ग-दर्शन के लिए आमतौर से किसी जाने-माने शायर के पास जाता था। वह जो कुछ लिखता था, उसे उस बड़े शायर को दिखाया करता था, और उस्ताद न केवल उसकी रचनाओं को ठीक कर देता था, बल्कि उसे ज़बान की नफ़ासत और शायरी की बारीकियां समझाता था और काव्य-शास्त्र की शिक्षा भी देता था। इस परम्परा की जड़ें इतनी मज़बूत हो चुकी थीं कि यह लगभग असम्भव था कि किसी शायर का कोई उस्ताद न हो। प्राय: ऐसा होता था कि उस्ताद जब तक जीवित रहता था, तब तक शागिर्द उससे अपनी रचनाओं पर इसलाह लेना ज़ारी रखता था। लेकिन इस परम्परागत अर्थ में ग़ालिब का अभी कोई उस्ताद नहीं रहा। हमें ज्ञात नहीं कि उन्होंने अपने आरम्भिक दिनों में कभी किसी से इसलाह ली या नहीं। लेकिन हमें इतना ज़रूर मालूम हैं कि अपने बाद के दिनों में वे कहा करते थे कि शायरी का फ़न मुझे खुदा के रहम से मिला है। इस प्रकार मीर की भविष्यवाणी अंशत: सत्य निकली। अपनी निजी सामान्य बुद्धि के अलावा ग़ालिब का कभी कोई उस्ताद नहीं रहा, और इतने पर भी वे समय आने पर एक महान शायर बन सके।

बहुत सम्भव है कि दिल्ली आने के तुरन्त बाद वे अपनी पत्नी के परिवार के साथ ही रहे हों। फ़ारसी में लिखे उनके एक पत्र से ज्ञात होता है कि कुछ समय बाद उन्होंने एक मकान ख़रीद लिया था और उसी में रहने लगे थे। हमें यह ज्ञात नहीं कि वे अपने ससुर इलाहीबख्श ख़ां के यहाँ कितने समय तक रहे। लेकिन इतना तय है कि इससे उन्हें बड़ा लाभ हुआ।

उन दिनों धनी और पढ़े-लिखे लोगों के घर, यूरोप के अमीरों के 'सैलों' जैसे हुआ करते थे, जहां विद्वानों, कवियों और कलाकारों का जमघट लगा रहता था। मेज़बान अपने मेहमानों की आवभगत करता था। हर तरह से उनका ख्याल रखता था और उनकी हित-चिंता भी करता था। अपनी नौजवानी के उन दिनों में ग़ालिब का दिल्ली में रहना और ऐसे जाने-माने और प्रभावशाली परिवार के साथ उनका घनिष्ठ सम्पर्क शीघ्र ही दिल्ली के उच्चवर्गीय समाज में उनका परिचय बढ़ाने में सहायक हुआ। ये सम्पर्क और संबंध उनके लिए बड़े लाभप्रद सिद्ध हुए। इस समय जिन लोगों से उनकी जान-पहचान हुई उनमें विद्वान और कवि, राजनीतिज्ञ और धर्मशास्त्री, संत-फ़कीर और राजनेता सभी तरह के लोग सम्मिलित थे। ये लोग आगे चलकर जीवन के अच्छे और बुरे दिनों में उनके बड़े काम आए और मौके-बेमौके उनकी सहायता करते रहे।

पेंशन का झगड़ा

जब गालिब जवान हो गए थे और उन्हे अपने परिवार का भरणपोषण भी करना था। जब तक वे आगरा में थे, उनकी माता उन की देखभाल करती थीं और हो सकता है कि दिल्ली चले आने पर भी उन्होंने गालिब की सहायता करना जारी रखा हो। नवाब अहमदबख्श खां भी जब उन्हे जरूरत होती थी उनकी सहायता करते थे। लेकिन यह सब कुछ अनिश्चित ही था—उनकी स्थायी आय तो केवल 750 रुपये वार्षिक की रकम ही थी जो उन्हें उनके ताऊ नसरुल्लाबेग खां की मृत्यु के बाद अंग्रेजों के द्वारा बाँधी गई 5,000 रुपये वार्षिक की पारिवारिक पेंशन में से उनके हिस्से के रूप में मिलती थी। लेकिन परिस्थितियों को बिगड़ते और अधिक देर नहीं लगी।

नवाब अहमदबख्श खा के तीन लडके थे। उनमे से सबसे बड़े लडके शम्सुद्दीन अहमद खां ने किसी बात पर अपने परिवार मे झगडा कर लिया। वह परिवार के सभी लोगों से नफ़रत करने लगा। चूंकि वह नवाब का वास्तविक उत्तराधिकारी था इसलिए नवाब को यह आशंका हुई कि उनकी मृत्यु के बाद शक्ति और प्रभाव प्राप्त करके वह अपने दोनों छोटे भाइयो को सतायेगा—यह सोचकर कि इस प्रकार की स्थिति पैदा न हो, तथा अंग्रेजो और उनके अपने परिवार को भी किसी प्रकार के विवाद का अवसर प्राप्त न हो सके, उन्होने 1826 में गद्दी छोड दी और उस शर्त के साथ शम्सुद्दीन अहमद खा को फिरोजपुर झिरका और लोहारू का शासक बना दिया कि लोहारू से होने वाली सारी आय को दोनों छोटे भाइयो मे बांट दिया जाएगा। इस व्यवस्था का गालिब की अपनी स्थिति पर निर्णायक प्रभाव पडा। सन् 1806 की व्यवस्था के अनुसार उन्हें और उनके परिवार को 5,000 रुपये की जो वार्षिक पेशन मिलती थी वह फिरोजपुर झिरका और लोहारू की दोनो रियासतों की आय से प्राप्त होती थी। अब शम्सुद्दीन अहमद खा मालिक बन गया था और अपने दोनो छोटे भाइयो को फूटी आख से देखना भी पसन्द नहीं करता था, और चूंकि गालिब उनके घनिष्ठ मित्र और हितचिंतक थे, इसलिए वह गालिब के भी विरुद्ध हो गया। गालिब को उनका हिस्सा समय पर न मिल सके, इस उद्देश्य से उसने हर तरह की बाधाएं उत्पन्न कर दी, यहा तक कि अत में उसने उनका हिस्सा देना ही बन्द कर दिया।

एक प्रेम प्रसंग

इसी समय के आसपास हमें गालिब के एक प्रेम-प्रसंग का पता चलता है, जिसने उनके मन पर एक स्थायी प्रभाव छोड़ा। वे नौजवान थे, 25 वर्ष से अधिक उनकी आयु नहीं थी, इसके अलावा वे स्वस्थ और सुन्दर थे, और खासी अच्छी आर्थिक हालत में रह रहे थे। जिस समाज मे वे रहते और उठते-बैठते थे उसमें रखैल या उपपत्नी रखना बुरा नही माना जाता था, उल्टे काफी हद तक इसे उस जमाने में प्रतिष्ठा का एक प्रतीक ही समझा जाता था। हम देखते हैं कि उस समय के पढ़े-लिखे लोग विद्वान्, राजनेता, धर्मशास्त्री और रईस आदि सभी अपने परिवार के अलावा स्थायी रूप से रखैले पालते थे और नाचने-गानेवालियो से सम्बन्ध रखते थे। किसी पतनोन्मुख समाज मे लोगो की नैतिक स्थिति प्राय कमजोर हो जाती है और इसके फलस्वरूप वह समाज लोगो को आमतौर से कुछ छूट देता है। अठारहवी शताब्दी के आरम्भ से दिल्ली स्थित केन्द्रीय सरकार की स्थिति धीरे-धीरे क्षीण होती जा रही थी। मुगलशाही वश के बाद के बादशाहो को जो भी कुछ प्रतिष्ठा और प्रभाव प्राप्त था, यह उनके पूर्वजों की प्रसिद्धि और

गौरव के कारण ही प्राप्त था, उनके अपने कारण नहीं। औरंगज़ेब के ज़माने तक जो भी लोग राजसिंहासन के उत्तराधिकारी बनते गए, वे आमतौर से दृढ़ व्यक्ति और अच्छे प्रशासक थे, उनमें पर्याप्त बौद्धिक क्षमता थी और वे मुख्य रूप से सक्रिय कार्य करने वाले व्यक्ति थे। उनमें से प्रत्येक आवश्यकता पड़ने पर परिस्थिति का सामना करने के लिए तैयार हो जाता था। परिणामस्वरूप साम्राज्य न केवल भौगोलिक दृष्टि से विस्तृत हुआ था बल्कि शक्ति और समृद्धि की दृष्टि से भी दृढ़ और सुगठित था। सरकारी ख़ज़ाने में पर्याप्त धन होता था तथा सेना अच्छी तरह से प्रशिक्षित और पूर्ण संतुष्ट होती थी। औरंगज़ेब की मृत्यु के बाद उस विस्तृत साम्राज्य के विभिन्न भागों ने एक-एक करके केन्द्रीय सरकार का जुआ उतार फेंका और राजधानी में स्थित दरबारी लोग बादशाह से मुनाफ़े और ताक़त की स्थिति प्राप्त करने के लिए एक-दूसरे के खिलाफ़ तरह-तरह के षड्यंत्र किया करते थे। विभिन्न गुटों के इस प्रकार लड़ते-झगड़ते रहने के कारण चारों तरफ अराजकता का वातावरण फैला हुआ था। हर आदमी के पास काफी मात्रा में फ़ालतू समय होता था और वह यह नहीं सोच पाता था कि इसका किसी अच्छे ढंग से उपयोग कैसे किया जाए। राजनीतिज्ञों के पास शक्ति थी और धर्म और नैतिकता की ओर से लोगों ने मुंह मोड़ लिया था। कुछ लोग ऐसे भी थे, जो इस स्थिति के विरुद्ध आवाज़ उठाते थे। लेकिन उनकी कोई नहीं सुनता था। ऐसी स्थिति में हर कोई शराब, जुए और नाचने-गानेवालियों की संगत में अपना ग़म ग़लत करना चाहता था।

हमें यह ज्ञात नहीं कि ग़ालिब को जिस स्त्री से प्रेम हो गया था, वह किस वर्ग की थी। बहुत दिनों बाद लिखे गए अपने एक पत्र में उन्होंने स्पष्ट रूप से इस मामले का उल्लेख किया है। उन्होंने उसे 'डोमनी' कहा है, जिसका अर्थ है—नाचने-गानेवाली। यदि हमारा यह अनुमान गलत नहीं है तो ऐसा लगता है कि वह स्त्री जवानी में ही मर गई थी, क्योंकि ग़ालिब की शुरू की शायरी एक 'मरसिया' है, जो संभवतः उसकी मृत्यु के शोक में लिखा गया था। 'मरसिया' इस प्रकार है:

दर्द से मेरे है तुझको बेकरारी हाय हाय
क्या हुई ज़ालिम तिरी ग़फ़लत शिआरी[1] हाय हाय
तेरे दिल में गर न था आशोबे-ग़म[2] का हौसला
तूने फिर क्यों की थी मेरी ग़मगुसारी[3] हाय हाय
क्यों मिरी ग़मख्वारगी का तुझको आया था ख़याल
दुश्मनी अपनी थी मेरी दोस्तदारी हाय हाय
उम्र भर का तूने पैमाने-वफ़ा[4] बांधा तो क्या
उम्र की भी तो नहीं है पायदारी हाय हाय
ज़हर लगती है मुझे आग-ओ-हवाए-ज़िन्दगी
यानी तुझसे थी उसे नासाजगारी[5] हाय हाय
गुलफ़िशनी हाय नाजे-जल्वा[6] को क्या हो गया
ख़ाक पर होती है तेरी लालाकारी[7] हाय हाय
शर्मे-रुस्वाइ[8] से जा छुपना नकाब-खाक[9] मे

1. असावधानी का आचरण, 2. दु:ख की आकुलता सहन करने की शक्ति, 3 दु:ख मे सम्मिलित होना, 4 प्रेम के निर्वाह का वचन, 5. प्रतिकूलता, 6 गर्वित सौन्दर्य की अठखेलियो की पुष्प-वर्षा, 7 फूल-पत्तो का श्रृंगार, 8. बदनामी की शर्म, 9 मिट्टी का पर्दा.

ख़त्म है उल्फत की तुझ पर परदादारी हाय हाय
ख़ाक में नामूसे-पैमाने मोहबत[1] मिल गई
उठ गई दुनिया से राहो-रस्मे-यारी[2] हाय हाय
हाथ ही तेग आज़मा का काम से जाता रहा
दिल प इक लगने न पाया जख्मे-कारी[3] हाय हाय
किस तरह काटे कोई शबहाए तारे-वर्षकाल[4]
हैं नजर ख़ूक्ररदए अख़्तर शुमारी[5] हाय हाय
गोश महजरे-पयाम-व-चश्म मजरूमे-जमाल[6]
एक दिल, तिस पर यह ना उम्मीदवारी हाय हाय
इश्क़ ने पकडा न था, "गालिब" अभी वहशत का रंग
रह गया था दिल में जो कुछ ज़ोके-ख़्वारी[7] हाय हाय

ऐसा लगता है कि वह किसी अच्छे खानदान की थी, क्योंकि इस मरसिये मे ऐसा संकेत है कि उसने इस डर से कि उनका मामला उसके घर वालों तथा आम लोगों की नजरों में एक वितण्डा बन रहा है, संभवत: आत्महत्या कर ली थी। अगर वह कोई मामूली वैश्या होती तो ऐसे किसी वितण्डे या अपमान का सवाल ही नहीं उठता जिससे उसे अपने हाथों अपनी जान लेनी पड़ती। ग़ालिब के युवा हृदय पर इस आरंभिक प्रेम-सम्बन्ध ने एक स्थायी प्रभाव छोड़ दिया था। उनके जमाने की सामाजिक स्थिति में यह संभव है कि उनके जीवन में ऐसे भावुक लगाव और भी हुए हों, लेकिन उनके बारे में हमें निश्चित रूप से कोई प्रमाण प्राप्त नहीं है।

अपने समय की ऐसी सामाजिक अव्यवस्था के प्रभाव से ग़ालिब भी बच नहीं सके। उन्होने शरात्र पीना शुरू कर दिया। कभी-कभी जुआ भी खेलते थे। इस प्रकार की आदतों का निर्वाह पर्याप्त और नियमित आय ऐसी थी ही नही। जब तक आगरा में उनकी माता जीवित रही, तब तक हम उम्मीद कर सकते हैं कि वे उनके लिए पर्याप्त धन की व्यवस्था करती ही रही होगी। नवाब अहमदबख्श खां ने भी अपने पारिवारिक संबंधों और नैतिक दायित्व के विचार से उनकी काफी सहायता की। नवाब साहब के गद्दी छोड़ने के बाद स्थिति बहुत कठिन हो गई। ग़ालिब की आर्थिक हालत तेजी से ख़राब होने लगी और उन पर कर्ज़ का भार बढ़ता चला गया। ऐसी स्थिति में हमेशा ही आदमी कोई-न-कोई बहाना ढूंढ लेता है।

पेंशन का मुकदमा

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, गालिब के ताऊ नसरुल्लाबेग खा की मृत्यु के बाद 1806 में लॉर्ड लेक ने जो पहला आदेश जारी किया था, वह शोक-सतप्त परिवार के लिए 10,000 रुपये वार्षिक पेन्शन के लिए था। बाद मे नवाब अहमदबख्श खा ने किसी प्रकार इस आदेश मे संशोधन करवा दिया, जिससे यह रकम आधी रह गई और उन्होंने पेशन की रकम के हिस्सेदारो मे एक किसी ख्वाजा हाजी का नाम भी जुड़वा दिया था। ग़ालिब को एक दूसरे आदेश की जानकारी नहीं थी। उनका ख्याल था कि पेन्शन 10,000 रुपये वार्षिक की ही है। अब जबकि उनकी आर्थिक हालत मुश्किल हो गई तो उन्हे अचानक याद आया कि इतने सालों से उनके और उनके परिवार के साथ अन्याय किया ज़ा रहा है और पेन्शन के 10,000 रुपये की

1. प्रेम के वचन का आदर, 2. मित्रता की रीति, 3 गहरा घाव, 4 वर्षा काल की अधेरी राते, 5 तारे गिनने की अभ्यस्त, 6. कान संदेश से और आखे रूप से वंचित हैं, 7 निरादृत होने की अभिरूचि।

बजाय सिर्फ 5,000 रुपये ही दिए जा रहे है। यही नही, एक बाहरी आदमी को, जिसका कि नसरुल्लाबेग खा के परिवार से किसी भी प्रकार का कोई सम्बन्ध नहीं था, इस पेन्शन का एक हिस्सेदार बना दिया गया। यह तो आपत्तिजनक था ही, ऊपर से यह अन्याय और किया गया था कि पेन्शन का सबसे बडा हिस्सा उसी व्यक्ति को मिल रहा था। इस त्रुटि को ठीक कराने के उद्देश्य से गालिब ने पहले तो नवाब अहमदबख्श खां से शिकायत की तो उन्होंने यह कहकर समझाने की कोशिश की कि उनके साथ न्याय किया जाएगा। परन्तु नवाब साहब की ओर से कोई ठोस कदम नही उठाया गया तो गालिब अधीर हो उठे और उन्होंने कलकत्ता जाकर केन्द्रीय सरकार के सामने अपना दावा पेश किया। क्योंकि पेन्शन मूलरूप से लॉर्ड लेक ने मजूर की थी।

कलकत्ता की यात्रा

ग़ालिब कानपुर, लखनऊ, बांदा, इलाहाबाद, बनारस, मुर्शिदाबाद आदि के रास्ते लबी और कठिन यात्रा पूरी करके 1828 की फरवरी के शुरू में कलकत्ता पहुचे। उन्होने अप्रैल के अंत मे गवर्नर-जनरल की कौंसिल के सामने अपनी पहली दरख्वास्त पेश की। उसमे उन्होंने निम्नलिखित मागे रक्खी।

(1) लॉर्ड लेक ने मई 1806 मे स्वर्गीय नसरुल्लाबेग खां के परिवार के भरण-पोषण के लिए 10,000 रुपये वार्षिक की सहायता मजूर की थी। इसमें से अब तक सिर्फ 5,000 रुपये की रकम ही दी जाती रही है। 10,000 रुपये की मूल रकम अदा करने का हुक्म दिया जाए।

(2) यह पेन्शन नसरुल्लाबेग खां के परिवार के लिए मजूर हुई थी। लेकिन एक बाहरी आदमी (ख्वाजा हाजी) को, जिसका नसरुल्लाबेग खां से या उनके परिवार से किसी प्रकार का कोई सबध नही था, पेन्शन के हिस्सेदारो में शरीक कर दिया गया था और अब उसके मर जाने के बाद उसके दो लडको को अपने बाप का हिस्सा अदा किया जा रहा है। इसको बद किया जाए।

(3) मूलरूप से मजूर किए गए 10,000 रुपये और वास्तव मे अदा किए गए 5,000 रुपये के बीच 5,000 रुपये वार्षिक का जो अतर पडा है, उसका हिसाब लगाया जाए और बकाया रकम परिवार को अदा कर दी जाए। इसमे 2000 रुपये वार्षिक की वह रकम भी शामिल ही जानी चाहिए, जो गलती से ख़्वाजा हाजी को अदा की जाती रही है।

(4) अब भविष्य मे पेन्शन फिरोजपुर झिरका राज्य की बजाय ब्रिटिश खजाने से अदा की जानी चाहिए।

अक्तूबर 1827 मे नवाब अहमदबख़्श खा की मृत्यु हो गई। गालिब को यह खबर अपनी यात्रा के दौरान मुर्शिदाबाद में मिल गई थी। स्पष्ट था कि अब मुकदमा ग़ालिब और स्वर्गीय नवाब के सबसे बडे लडके शम्सुद्दीन अहमद खां के बीच था, जो अपने पिता के जीवनकाल मे ही फिरोजपुर झिरका का शासक बन गया था। शम्सुद्दीन अहमद खां ने अपनी ओर से जवाब में लॉर्ड लेक का वह दूसरा हुक्मनामा पेश कर दिया, जिसमे 10,000 रुपये की मूलराशि को घटाकर 5,000 रुपये कर दिया गया था। गालिब ने यह सिद्ध करने के उद्देश्य से कि 10,000 रुपये का उनका दावा और बक़ाया रक़म की अदायगी की उनकी दरख्वास्त न्यायोचित है, यह तर्क पेश किया कि यह दूसरा हुक्मनामा जाली है या किसी संदेहास्पद सूत्र से प्राप्त किया गया

मालूम होता है। उनका तर्क था कि इस दूसरे हुक्मनामे की कोई भी प्रतिलिपि कलकत्ता या दिल्ली के सरकारी रिकार्ड में नहीं है जबकि सबको मालूम है कि सभी दस्तावेज़ों की सही प्रतिलिपियां सरकारी रिकार्ड मे अनिवार्य रूप में सुरक्षित रखी जाती हैं। इसके अलावा, यह दस्तावेज़ फारसी में था और इस पर लॉर्ड लेक के हस्ताक्षर होने चाहिये थे या कम से कम इसके पीछे उसके सचिव के हस्ताक्षर होने चाहिये थे, जैसा कि ऐसे मामलों में आम रिवाज था। लेकिन शम्सुद्दीन अहमद खां द्वारा पेश किए गए दस्तावेज़ पर इस प्रकार का कोई हस्ताक्षर नही था। ग़ालिब का तर्क था कि यह ज़ाहिर है कि यह दस्तावेज़ सच्चा नहीं है और इसीलिए विश्वास के योग्य नहीं। अंत में उनकी ओर से कहा गया कि किसी भी हालत में इसकी वजह से पहला आदेश रद्द नहीं हो सकता, जिसमें 10,000 रुपये वार्षिक की मंजूरी दी गई थी और जो लॉर्ड लेक के हस्ताक्षर से जारी हुआ था और जिसे गवर्नर जनरल की कौंसिल ने अनुमोदित किया था, तथा जिसकी एक प्रति कलकत्ता कार्यालय के रिकार्ड में मौजूद थी।

ग़ालिब का तर्क इतना सुसंगत था और ठोस तथ्यों पर आधारित था कि भारत सरकार के मुख्य-सचिव जॉर्ज स्विंटन को पूरा विश्वास हो गया कि नवाब द्वारा पेश किया दस्तावेज़ सच्चा नहीं है और इसलिए ग़ालिब का दावा स्वीकार किया गया था, उस समय सर जॉन मैल्कम लॉर्ड लेक के सचिव थे। अब वे बम्बई में लेफ्टिनेंट गवर्नर थे। यह दस्तावेज़ उनकी राय जानने के लिए उनके पास भेजा गया। सर जॉन मैल्कम ने ग़ालिब के तर्कों पर ध्यान देने की बजाय यह विचार प्रकट किया कि नबाव अहमदबख़्श खां एक सम्मानित व्यक्ति थे और लॉर्ड लेक के पूर्ण विश्वासपात्र थे, इसलिए इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती कि वे इतने नीचे उतरेंगे और ऐसा जाली दस्तावेज तैयार करेगे। अपने तर्क को इस तथ्य पर आधारित करते हुए सर जॉन मैल्कम ने निर्णय दिया कि यही दस्तावेज़ ठीक होगा और सबूत के रूप में इसी को स्वीकार किया जाना चाहिए। इस पर गवर्नर जनरल की कौंसिल ने निर्णय दिया कि सरकार वर्तमान व्यवस्था में किसी प्रकार के रद्दोबदल को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं है। दूसरे शब्दों में, गालिब का मुकदमा खारिज कर दिया गया।

ग़ालिब ने गवर्नर जनरल की कौंसिल के अंतिम फैसले का इन्तज़ार नहीं किया। वे कलकत्ता से चल दिए और 1829 के नवम्बर के अन्त में दिल्ली लौट आए। फिर भी उसकी यह कलकत्ता यात्रा अनेक कारणों से उनके जीवन मे महत्वपूर्ण सिद्ध हुई।

कलकत्ता में साहित्यिक विवाद

ग़ालिब के कलकत्ता पहुंचने के कुछ ही समय बाद कलकत्ता कालेज के साहित्यिक समाज ने एक साहित्य गोष्ठी और मुशायरे का आयोजन किया। ग़ालिब ने भी इसमें भाग लिया और अपनी दो फारसी ग़जलें पढ़ीं। कलकत्ता के अधिकांश शायर या तो मुहम्मद हसन 'क़तील' के शागिर्द थे या उनके पक्के समर्थक थे। जब ग़ालिब ने अपनी ग़ज़लें पढ़ी तो क़तील का प्रमाण देते हुए कुछ लोगों ने उनकी कुछ विरोधी आलोचना की। ग़ालिब ने कभी भी भारत के फ़ारसी विद्वानों को मान्यता नहीं दी थी। उनका कहना था कि गहरे अध्ययन और कठोर परिश्रम से किसी भी भाषा को सीखा जा सकता है ओर उस पर अधिकार प्राप्त किया जा सकता है, लेकिन जब यह सवाल उठता है कि कौन-सा प्रयोग और मुहावरा शुद्ध है तो केवल उस विशिष्ट देश के विद्वान या उनकी रचनाओं को ही प्रमाण माना जा सकता है। उस देश के बाहर लोगो को,

चाहे वे कितने ही बडे पंडित क्यों न हो, इस सम्बन्ध में अन्तिम और आधिकारिक प्रमाण नहीं माना जा सकता। उनका विचार था कि चूंकि क़तील भारती हैं, इसलिए उनकी रचनाओं को प्रमाण मानकर यह तय नहीं किया जा सकता कि मेरा कोई प्रयोग गलत है या सही है। ग़ालिब के इस कथन से श्रोता लोग भड़क उठे क्योंकि उनकी नज़रों में कतील का फारसी के एक शायर और उस्ताद के रूप में बड़ा मान था। फलस्वरूप गालिब की बड़ी कडी आलोचना और निन्दा होने लगी। उन्हें अपने विरोधी लोगों के मौखिक और मुद्रित आरोपों और आलोचनाओं का उत्तर देना पडा। किसी तरह विरोध थोड़ा-बहुत कम हुआ लेकिन बिल्कुल समाप्त कभी नहीं हो सका। इस दुर्भाग्यपूर्ण घटना का उनके साहित्यिक जीवन पर स्थायी प्रभाव पड़ा और जैसे-जैसे समय बीतने लगा, भारत के फारसी के विद्वानो के प्रति उनकी कटुता और उपेक्षा की भावना बढती ही गई।

कलकत्ता का सांस्कृतिक प्रभाव

कलकत्ता की इस यात्रा का दूसरा परिणाम यह निकला कि जीवन के प्रति ग़ालिब के दृष्टिकोण पर एक स्वस्थ प्रभाव पडा। उस समय कलकत्ता भारत का सबसे ज्यादा विकसित और आगे बढ़ा हुआ शहर था। अंग्रेजों का राज क़ायम होने के कारण वहां बहुत-से-आधुनिक और नवीनतम वैज्ञानिक आविष्कारों का आम प्रचलन हो गया था। संसार के कोने-कोने से जहाज़ सुदूर देशों का माल और तिजारती सामान लादकर कलकत्ता के बंदरगाह में पहुंचते रहते थे। इससे वहां हर समय एक चहल-पहल बनी रहती थी। कलकत्ता मे रहने वाले अंग्रेज़ों ने भी वहां के स्थिर और श्लथ पौर्वात्य वातावरण में बहुत अधिक परिवर्तन उपस्थित कर दिया था। वहां उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ मे स्थापित हुए फोर्ट विलियम कालेज ने उर्दू मे अनेक मौलिक पुस्तकों के प्रशासन के साथ ही अंग्रेज़ी तथा कुछ पूर्वीय भाषाओं के अनुवाद भी प्रकाशित किए थे। इनसे उर्दू गद्य में एक नई शैली की शुरुआत हुई थी। इसके अलावा कलकत्ता में ईरानी व्यापारी ओर यात्री भी काफी बड़ी संख्या में रहते थे। गालिब इनके सम्पर्क मे आए और इस प्रकार उन्हें आधुनिक फारसी का ज्ञान प्राप्त करने का अवसर मिला। इन सब बातों का उन पर यह सम्मिलित प्रभाव पडा कि न केवल साहित्य के प्रति, बल्कि पूरे जीवन के प्रति, जीवन के सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक पहलुओं के प्रति उनके दृष्टिकोण में बड़ा परिवर्तन आया।

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि अपनी इस लम्बी और असुविधापूर्ण यात्रा के प्राथमिक उद्देश्य मे भले ही वे असफल रहे हो, लेकिन बौद्धिक दृष्टि से और सामान्य ज्ञान की दृष्टि में उन्हें बड़ा लाभ प्राप्त हुआ। फारसी के प्रभाव के कारण उर्दू गद्य अब भी फारसी के मुहावरो और शब्दो की भरमार से बोझिल था। वैसे यह स्वाभाविक भी था, क्योंकि उस समय के अधिकांश उर्दू लेखकों की शिक्षा-दीक्षा फ़ारसी में हुई थी और हालांकि परिस्थितियों के प्रभाव से उन्होंने उर्दू में लिखना शुरू कर दिया था लेकिन अब भी इस नई भाषा को वे बहुत सम्मान की दृष्टि से नहीं देख पा रहे थे। उनके लेखन का अधिकांश अब भी फ़ारसी में ही होता था तथा उर्दू को अभिव्यक्ति का माध्यम स्वीकार कर लेने के बावजूद वे अभी फारसी की अपनी पृष्ठभूमि से पीछा नहीं छुड़ा पाए थे। फोर्ट विलियम कालेज वह पहली संस्था थी जिसने उर्दू गद्य में एक नया मार्ग प्रशस्त किया। उसका उद्देश्य मुख्य रूप से उन नये क्लर्कों के लिए

उपयुक्त पाठ्यपुस्तकें तैयार करना था, जो इंग्लैंड में ईस्ट इंडिया कम्पनी की सेवा में भरती होते थे और सरकारी शासनतन्त्र के अंग के रूप में भारत आते थे। उन्हे उर्दू सीखनी पड़ती थी क्योंकि वही आम लोगों की बोलचाल की भाषा थी। लॉर्ड वेलेजली ने इस कालेज की स्थापना की थी, जहां इंग्लैंड से नये आनेवाले कलर्कों को उर्दू सिखाई जाती थी। पाठ्य-पुस्तकों को तैयार करने के लिए देश के विभिन्न भागों से काफ़ी सख्या में लेखकों और कवियों को भरती किया गया था, जो या तो फ़ारसी और अरबी से पुस्तको का अनुवाद करते थे या मौलिक रचनाए तैयार करते थे। इन रचनाओं की भाषा को सरल और आम बोलचाल की भाषा के निकट रखना आवश्यक था। ऐसे संकेत मिलते हैं कि ग़ालिब ने इनमें से कुछ पुस्तकों को पढ़ा था। कुछ लोगो का मत है कि ग़ालिब पत्र-लेखन की उस अंग्रेजी शैली से प्रभावित हुए थे जो बिना किसी लम्बी-चौडी और घुमावदार भूमिका के, जैसी कि उस समय की टकसाली फ़ारसी और उर्दू में आम प्रथा थी, सीधे अपने कथ्य विषय पर आ जाती थी। लेकिन यह कहना ठीक नही है क्योंकि कलकत्ता जाने के पहले ही, जब ग़ालिब अपना पूरा लेखन फ़ारसी में ही करते थे, तब भी उन्होंने इस शैली का विरोध किया था और उस समय प्रचलित अनावश्यक बंधनो से भाषा को मुक्त करने का समर्थन किया था। फिर भी, सच है कि पोर्ट विलियम कालेज द्वारा तैयार की गई सीधी और सरल गद्य रचनाओं को पढ़कर गालिब को एक स्वस्थ अनुभव हुआ और उसकी पहली मान्यता की पुष्टि हुई।

वे लगभग तीन साल की अनुपस्थिति के बाद 1829 की फरवरी के अन्त में दिल्ली वापस पहुचे।

शम्सुद्दीन अहमद खाँ का अंत

दिल्ली से ग़ालिब की अनुपस्थित के दौरान घटनाएं काफी तेज़ी से घटी। जैसा कि पहले कहा जा चुका है अक्तूबर 1827 में नवाब अहमदबख्श़ खां की मृत्यु हो चुकी थी। नवाब शम्सुद्दीन अहमद ख़ां फिरोजपुर झिरका और लोहारू की रियासतों की गद्दी पर जमकर बैठ चुका था। अपने दोनों छोटे भाइयों से उसका झगड़ा और भी गहरा हो गया था, और उसने उन दोनों लड़कों के मार्ग में रुकावटें पैदा करना और उन्हें पैतृक सम्पत्ति के सुख से वंचित करना शुरू कर दिया था। ग़ालिब ने जो मुकदमा दायर किया था उसके फलस्वरूप फिरोजपुर के ख़ज़ाने से उनकी पेन्शन की अदायगी बिल्कुल बन्द कर दी गई थी। इतना ही नही, नये नवाब ने ब्रिटिश एजेंट मि० विलियम फ्रेज़र से भी गहरी अनबन पैदा कर ली थी। इसका परिणाम बड़ा दुर्भाग्यपूर्ण हुआ। 22 मार्च, 1835 की शाम को जब फ्रेज़र एक दावत में शरीफ होकर दिल्ली में काश्मीरी गेट के बाहर रिज पर स्थित अपने घर वापस लौट रहा था तो किसी ने गोली मारकर उसकी हत्या कर दी। जांच-पडताल के बाद नवाब का एक नौकर करीम ख़ां गिरफ्तार कर लिया गया और उस पर हत्या का आरोप लगाया गया। बाद में हुई खोज-बीन में नये तथ्यों का पता चला और यह संकेत मिला कि इस अपराध में खुद नवाब की सांठगाठ थी। फलस्वरूप दोनों पर मुकदमा चलाया गया। वास्तविक हत्यारे को 26 अगस्त, 1835 को फांसी दे दी गई। साथ ही, हाकिम ने मुकदमे से सम्बन्धित सारे तथ्यो की रिपोर्ट गवर्नर-जनरल के पास कलकत्ता भेज दी और यह राय दी कि नवाब को भी इस अपराध को प्रोत्साहन देने के जुर्म मे यही सजा दी जानी चाहिए। इस विपत्ति से बचने के लिए नवाब के द्वारा किए गए सारे प्रयास

असफल रहे। गवर्नर-जनरल की कौंसिल ने दिल्ली के हाकिम की सिफारिश को मंजूर कर लिया, और अन्त में नवाब को भी 8 अक्तूबर 1835 को फांसी दे दी गई।

इस घटना से परिस्थिति बिल्कुल बदल गई। फिरोजपुर झिरका की रियासत, जिसे अंग्रेजो ने हीं अहमदबख्श ख़ां को इनाम में दे दिया था, अंग्रेज़ों द्वारा ज़ब्त कर ली गई। लोहारू की रियासत, जो अलवर के महाराव द्वारा दी गई थी, अब भी इस परिवार के अधिकार मे बच रही। शम्सुद्दीन अहमद ख़ां के छोटे भाई अमीनुद्दीन अहमद ख़ां को लोहारू का नवाब बनाया गया और यह तय हुआ कि वह अपनी रियासत से होने वाली आय का आधा भाग अपने छोटे भाई जियाउद्दीन अहमद ख़ां को देगा, जो इसमें उसका साझेदार था। और इस प्रकार ग़ालिब की पेंशन की अदायगी का काम दिल्ली कलक्टरी के सुपुर्द हो गया।

इस बीच गवर्नर-जनरल की कौंसिल द्वारा गालिब का यह दावा ख़ारिज कर दिए जाने के ख़िलाफ कि उनकी पेन्शन बढ़ाकर 10,000 रुपये वार्षिक कर दी जाए, ग़ालिब की अपील जारी थी और अन्त में वह 1842 में इंग्लैंड के गृह-मंत्रालय द्वारा रद्द कर दी गई। हालांकि गालिब ने इसके बाद भी मामले को सम्भालने के लिए अपनी कोशिश जारी रखी, लेकिन अन्त में 1844 में उन्हें हार मान लेनी पड़ी।

मुकदमे के दौरान उन्होंने जो कई मांगें पेश की थीं, उनमें से एक यह भी थी कि भविष्य में उनकी पेन्शन फिरोजपुर झिरका रियासत की बजाय ब्रिटिश खजाने से दी जाय। उनकी यह मांग अपने आप स्वीकृत हो गई क्योंकि अब न तो वह नवाब बचा ओर न उसकी रियासत ही बाकी रही। उन्होने यह भी दरख्वास्त की थी कि उन्हे गर्वनर-जनरल की राजसभा और दरबारों मे 'ख़िलअत' (राजपोशाक) का सम्मान प्रदान किया जाए। उनकी पहली प्रार्थना लॉर्ड विलियम बेंटिक के जमाने मे उसी समय स्वीकृत हो गई थी, जब वे कलकत्ता में थे। 'ख़िलअत' का सम्मान उन्हें मुकदमे के अन्त में लॉर्ड एलेनबरों के शासन काल (1842-44) में प्राप्त हुआ।

लगभग 15 वर्षों तक खिंचनेवाला यह लम्बा मुकदमा उनके लिए अपनी मामूली-सी आय की दृष्टि से बहुत भारी पड़ा। अपना खर्च चलाने के लिए उन्हें बहुत भारी सूद पर रुपये उधार लेने पडे और बाद में कर्ज़ चुकाने के लिए बडी तगी महनी पड़ी।

मुगल दरबार से सम्बन्ध

इस समय हालांकि आर्थिक दृष्टि से उनकी स्थिति बहुत खराब थी, लेकिन देश के साहित्यिक क्षेत्रों में उन्होंने काफ़ी ऊंचा स्थान प्राप्त कर लिया था। हमें उसका कोई सीधा सबूत नही मिलता है कि मुग़ल दरबार में उनका प्रवेश कैसे हुआ। जब वे आगरा छोडकर दिल्ली आए थे, तब लालकिले के शाही तख़्त पर अकबरशाह द्वितीय विराजमान था। दिल्ली आने के बाद बहुत सम्भव है कि ग़ालिब नवाब अहमदबख्श ख़ां के परिवार मे टिके थे। नवाब का शाही दरबार में परिचय ही नहीं था, बल्कि उन्हें यहा खासा प्रभावपूर्ण स्थान प्राप्त रहा होगा। इसलिए आसानी से यह अनुमान किया जा सकता है कि नवाब अहमदबख्श ख़ां के माध्यम से ही ग़ालिब को शाही दरबार में प्रवेश और परिचय प्राप्त हुआ होगा। शुरू में उन्होंने बादशाह की कृपादृष्टि प्राप्त करने का भी कुछ प्रयास किया। हमें उनके फारसी 'दीवान' मे एक 'क़सीदा' मिलता है, जो उन्होंने अकबरशाह द्वितीय की प्रशंसा में लिखा था, जिसके अन्त

में उसके भावी वारिस शाहज़ादे सलीम का भी उल्लेख किया गया है। लेकिन ऐसा लगता है कि उनका यह प्रयास असफल रहा। हालांकि अकबर शाह द्वितीय ने कुछ कविताएं लिखी हैं, लेकिन वास्तव में वह कला या साहित्य का प्रेमी नहीं था। इसलिए ग़ालिब उसे विशेष प्रभावित नहीं कर सके। अकबर शाह द्वितीय की मृत्यु 1837 में हुई और उसके बाद बहादुरशाह द्वितीय गद्दी पर बैठा। इस नये बादशाह को उर्दू भाषा पर बहुत अच्छा अधिकार प्राप्त था। यही नहीं, एक माने हुए शायर के रूप में उसे उर्दू साहित्य के इतिहास में एक स्थाई स्थान भी प्राप्त होने वाला था। वह 'जफ़र' के उपनाम (तख़ल्लुस) से शायरी करता था। दुर्भाग्यवश, ग़ालिब को इसके दरबार में भी प्रवेश नहीं मिल सका। बहादुरशाह अपने जीवन के उन आरम्भिक दिनों से शायरी करता आ रहा था, जब उसके गद्दी पर बैठने की कोई सम्भावना नही थी और उसे किसी तरह अपना वक्त़ काटना था। शुरू में उर्दू के मशहूर शायर 'नसीर' उसके उस्ताद थे और उसे इसलाह दिया करते थे। जब महाराजा चन्दूलाल के निमन्त्रण पर 'नसीर' हैदराबाद (दक्षिण) चले गए तो जफ़र ने कुछ समय तक काज़िम अली 'बेक़रार' से इसलाह ली। यह साथ भी ज्यादा दिनों तक नहीं रह सका। सन् 1808 में बेक़रार भी मोंस्टुअर्ट एल्फिन्स्टन के दल के साथ एक अनुवादक के रूप में उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त के लिए रवाना हो गए। एल्फिन्स्टन को अंग्रेज़ों ने काबुल के अमीर के साथ बात-चीत और संधि करने के लिए भेजा था। बेकरार के जाने के बाद जफर ने मुहम्मद इब्राहिम ''ज़ौक़'' नामक एक नौजवान शायर को अपना साथी बनाया, जो उस समय के साहित्य जगत में बड़ी तेज़ी के साथ प्रकाश में आ रहा था।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि ग़ालिब के लिए दरबार में पैर जमाने का जो रास्ता था वह उनके दिल्ली आने से पहले ही बन्द हो चुका था। अगर बाद में उन्होंने बादशाह की कृपा प्राप्त करने का प्रयास किया भी होता तो न सिर्फ ज़ौक़ और उनके गुट ने उनका विरोध किया होता बल्कि उन्होंने अकबरशाह द्वितीय और उसके लड़के सलीम की प्रशंसा में जो 'कसीदा' लिखा था, वह भी उनके विकास के मार्ग में एक रोड़ा सिद्ध होता क्योंकि उन दोनों ने ज़फ़र के खिलाफ़ सक्रिय रूप से काम किया था ताकि उसे गद्दी न मिल सके।

ग़ालिब को अपनी योग्यता और श्रेष्ठता का गहरा अहसास था। जौक़ जैसे शायरों और उनके गुट के लोगो के साथ होने वाली इस पराजय ने उन्हें बहुत अधिक पीड़ित किया होगा। उनका जीवन विपरीत परिस्थितियों के विरुद्ध लगातार संघर्ष का जीवन था। जब वे बहुत छोटे थे, तभी उनके पिता का और फिर उसके बाद उनके ताऊ का देहान्त हो गया। इस प्रकार उनके जीवन मे असुरक्षितता का एक लम्बा दौर चला और उन्हें अपने जीवनयापन के साधनों के लिए दूसरो का मुख देखना पडा। जब वे बडे हुए और उन्हें पता चला कि उन्हें और उनके परिवार को धोखा दिया गया और उन्हे उनके अधिकार से वंचित रखा गया। अपने इस अधिकार को पुन: प्राप्त करने के लिए उन्हें एक लम्बा मुकदमा लडना पडा। जिसम भी उनकी हार ही हुई और बहुत अधिक खर्च हो गया। इसलिए यह अस्वाभाविक नहीं कि उनके मन में ऐसे समाज के प्रति विद्रोह की भावना उत्पन्न हो गई, जो इस प्रकार के अन्याय को सहन करता है।

ऐसी विपरीत आर्थिक परिस्थितियो में भी यदि किसी को उसकी बौद्धिक और नैतिक क्षमताओं के लिए उचित मान्यता प्राप्त हो जाती है जो इस प्रकार उसे कुछ न कुछ सन्तोष का मौका मिल जाता है। बहादुरशाह जफ़र द्वितीय का दरबार कितना ही छोटा और महत्वहीन रहा हो लेकिन वही एकमात्र ऐसी जगह थी, जहां से इस प्रकार की मान्यता प्राप्त हो सकती थी।

लेकिन ग़ालिब को यह भी प्राप्त नही हो मकी क्योंकि वे देर से दिल्ली पहुचे थे। इसलिए यह आश्चर्य की बात नहीं है कि गालिब में अपने समकालीन साहित्य संसार के प्रति एक प्रकार की उपेक्षा की भावना पैदा हो गई थी। यह स्थिति अन्ततोगत्वा उनके लिए शक्ति और कमज़ोरी दोनों का ही कारण सिद्ध हुई—इससे उन्हे शक्ति मिली क्योंकि उन्होंने दूसरों की कृपा का मुंह ताकना बन्द कर दिया, और उनमे कमज़ोरी भी आई क्योंकि वे विपरीत परिस्थितियों के साथ अपनी तालमेल बैठाने में असफल रहे।

उर्दू 'दीवान'

ग़ालिब शाही दरबार से आधिकारिक मान्यता प्राप्त करने में असफल रहे। लेकिन ऐसे लोग भी थे, जो उनके महत्व को समझते थे और उन्हें एक महान् शायर और लेखक मानते थे। धीरे-धीरे उनकी स्थिति दृढ़ होती गई और अपनी लगन और कठोर परिश्रम के बल पर उन्होंने विद्वानों और काव्य-रसिको के एक दल का समर्थन प्राप्त कर लिया। अपने एक मित्र की प्रेरणा पर उन्होंने अपने उर्दू 'दीवान' का संशोधन किया और इसमे से ऐसी रचनाए अलग कर दीं, जो या तो दोषपूर्ण थी या अर्थ की दृष्टि से निस्तेज थी। सन् 1841 में उनका उर्दू 'दीवान' पहली बार प्रकाशित हुआ। इस छोटी-सी पुस्तक मे लगभग 1100 शेर सम्मिलित थे।

उसके बाद 1845 में उनका फारसी 'दीवान' प्रकाशित हुआ। यह पुस्तक अधिक बड़ी थी और इसमें लगभग 6,700 शेर सम्मिलित थे। इन दोनों पुस्तकों के प्रकाशन से उर्दू और फारसी के शायर के रूप में उनकी ख्याति सुदृढ़ हो गई तथा उनके मित्रों और शत्रुओं ने भी अब उन्हे साहित्य की शक्ति के रूप में स्वीकार कर लिया। 1847 में उर्दू 'दीवान' का दूसरा संस्करण प्रकाशित कराना पडा। इससे पता चलता है कि साहित्यिक क्षेत्रों में ग़ालिब कितनी तेजी से लोकप्रियता प्राप्त कर रहे थे।

आर्थिक कठिनाई

एक महान् कवि के रूप मे मान्यता प्राप्त कर लेना एक बात है, और आराम की ज़िन्दगी बसर कर पाना बिल्कुल दूसरी बात है। ग़ालिब के आर्थिक साधन लगभग सदा ही उनकी आवश्यकताओ से कम रहे। जब तक उनकी माता जीवित रही, वे उन्हें आर्थिक सहायता देती रही। हमें निश्चित रूप मे यह पता नही कि उनकी माता का देहान्त कब हुआ था, लेकिन कुछ सयोगात्मक प्रमाणों से सकेत मिलता है कि यह दुखद घटना सम्भवत: 1840 में ही हो चुकी थी, और उनमे जो कुछ सहायता मिलती थी वह भी बन्द हो चुकी थी। लम्बी मुकदमेबाज़ी के कारण उनकी आर्थिक स्थिति न केवल और भी खराब हो गई बल्कि उनके ऊपर कर्ज का बोझ भी बढ गया। इसलिए अब उनके लिए और उनके दोस्तों के लिए यह आवश्यक हो गया कि कुछ अतिरिक्त आर्थिक साधनों की तलाश करें ताकि उनकी चिन्ताएं कुछ कम हो सकें।

दिल्ली कालेज कांड

सन् 1840 में एक ऐसा अवसर आया भी, लेकिन ग़ालिब उससे लाभ उठा पाने में असफल रहे। दिल्ली कालेज के विज़िटर जेम्स थॉमसन कालेज के मुआइने के लिए आए। उन्होंने कहा कि कालेज में फ़ारसी की शिक्षा की कोई सन्तोषप्रद व्यवस्था नहीं है और सिफारिश की कि इस

कमी को दूर किया जाना चाहिए। किसी ने उनको सुझाया कि इस समय दिल्ली मे फ़ारसी के प्रसिद्ध विद्वान इमामबख्श सहबाई, और इनमें से किसी को भी इस काम के लिए राज़ी किया जा सकता है। थॉमसन ने पहले ग़ालिब को मिलने के लिए बुलाया। थॉमसन भारत सरकार के सचिव थे और गालिब को जानते थे। ग़ालिब को सरकारी दरबारों में 'कुर्सीनशीन' का ओहदा मिला हुआ था और इस नाते वे थॉमसन से पहले भी मिल चुके थे। थॉमसन के अनुरोध के उत्तर मे गालिब हमेशा की तरह अपनी पालकी में उनके घर पहुचे। वहा वे फाटक पर ही रुक गए और इन्तजार करने लगे कि कोई बाहर आकर उनका स्वागत करे तो वे भीतर जाए। जिन लोगों को गवर्नर-जनरल के दरबार में सम्मान का स्थान प्राप्त था, उनके लिए उस समय यही आम रिवाज था। और अनुमानतः थॉमसन भी पिछले अवसरों पर जब-जब गालिब उनसे मिलने जाते रहे होगे, तब उनका इसी प्रकार सम्मान करते रहे होंगे। लेकिन इस अवसर पर ग़ालिब इन्तजार करते रहे और उनके स्वागत के लिए कोई बाहर नही निकला। थोडी देर बाद थॉमसन स्वयं बाहर आए और उन्होने गालिब से पूछा कि आप पालकी से उतरकर भीतर क्यों नहीं आ गए। जब गालिब ने अपनी समस्या बताई तो थॉमसन ने कहा कि आपका औपचारिक स्वागत तो तभी किया जा सकता है जब आप सरकारी अतिथि के रूप मे आए। इस समय आप दिल्ली कालेज मे नौकरी प्राप्त करने के उद्देश्य से मुझसे मिलने आए है, इसलिए आपको परम्परागत स्वागत प्राप्त करने का हक नहीं है। इस पर गालिब की प्रतिक्रिया बडी तीखी रही। उन्होंने कहा कि मै दिल्ली कालेज की नौकरी के सिलसिले में आपसे इसी उम्मीद से मिलने आया हू कि इससे मेरा रुतबा बढेगा और अपने देशवासियो और ब्रिटिश अधिकारी वर्गो की नजरो मे मेरी इज्ज़त बढ जाएगी न कि इसलिए कि मेरी इज्जत और भी गिर जाए। अगर इस नौकरी को स्वीकार करने का मतलब यह है कि मै उस इज्जत से हाथ धो बैठू जो मुझे इस समय प्राप्त है, तो फिर मैं इसे अस्वीकार करना ही पसन्द करूगा। यह कहकर वे अपनी पालकी मे आ बैठे और वापस घर लौट आए। इस घटना मे उनके चरित्र की दृढता पर प्रकाश पडता है। जब सन् 1806 मे उनके चाचा की मृत्यु हुई थी तब नौ साल की उम्र से ही उन्हे अंग्रेजो से पेन्शन मिल रही थी। हर बार जब भी वे सरकारी दरबार मे शरीक होते थे, तो सदारत करने वाले अधिकारी की प्रशसा मे 'कसीदा' लिखते थे और सम्भवत. उसे दरबार में सुनाते भी थे। वे अपने आपको फारसी के उस्ताद और अधिकारी विद्वान मानते थे। इस सब के बावजूद वे आर्थिक रूप से बडी तगी की हालत में रह रहे थे। इस स्थिति में सामान्यत कोई भी यह उम्मीद कर सकता था कि वे इस अवसर को नहीं खोएंगे और कालेज की नौकरी स्वीकार कर लेंगे क्योकि इससे उनके ब्रिटिश संरक्षक तो प्रसन्न होते ही, फारसी के विद्वान के रूप में उनकी ख्याति भी दृढ़ हो जाती और बदले में उन्हे अपनी आर्थिक कठिनाइयों से भी मुक्ति मिल जाती। इतने सारे लाभ होने की स्पष्ट सम्भावना के बावजूद उन्होने गर्व के साथ उस प्रस्ताव को ठुकरा दिया और परिणाम की जरा भी परवाह नहीं की—और वह भी केवल इतनी-सी बात पर कि जब वे थॉमसन के घर पहुंचे तो उन्होंने उनका ढग से स्वागत नहीं किया। इस सारी घटना से उनके स्वाभिमान और आत्मगौरव की उस भावना का पता चलता है, जिसे वे हर हालत में सुरक्षित रखने का प्रयास करते थे।

जुआ के लिए जेल की सज़ा

स्वाभिमान और आत्मगौरव अपनी जगह पर ठीक थे लेकिन इनकी सहायता से उनकी

आर्थिक समस्याएं हल नहीं हो सकती थी। ये समस्याएं हमेशा की तरह ही कठिन बनी रहीं। ग़ालिब अपनी जवानी के शुरू के दिनों से ही शतरंज और चौसर आदि खेला करते थे और उनमें छोटे-मोटे दांव भी लगा लिया करते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि आर्थिक संकट के दिनों मे उन्होंने कुछ गम्भीरता से जुए के इन खेलों मे भाग लेना शुरू किया। इसमें शहर के कुछ धनी व्यापारी भी भाग लेते थे। कुछ समय बाद सब लोग जुआ खेलने के लिए गालिब के घर ही इकट्ठे होने लगे। स्पष्ट है कि इससे ग़ालिब की कुछ आर्थिक सहायता हो जाती थी। उधर पुलिस अधिकारियों को पता था कि शहर में जुआखोरी बढ़ गई है। वे इसे समाप्त कर देना चाहते थे क्योंकि इससे समाज में भ्रष्टाचार फैल रहा था। हर रोज़ शहर के किसी-न-किसी कोने में जुए के किसी अड्डे पर छापा मारा जाता था। जुआरी पकडे जाते थे और उन्हे सजा मिलती थी। गालिब को अब तक शहर कोतवाल से संरक्षण मिला हुआ था क्योंकि कोतवाल उनका निजी दोस्त था और एक साहित्य-रसिक व्यक्ति था। कुछ समय बाद उसका तबादला हो गया और फ़ैजुलहसन खा नाम का एक नया पुलिस-अफ़सर कोतवाल बना। उसको साहित्य से कुछ लेना-देना नहीं था। इसके अलावा वह अपनी कर्त्तव्यपरायणता के लिए प्रसिद्ध था। उसने इस बुराई को जड़ से मिटा देने का बीडा उठाया। एक दिन उसके दल ने स्त्रियो के भेस मे ग़ालिब के घर पर छापा मारा। उसने कुछ सिपाहियो को पर्दानशीन औरतों की तरह छिपाकर पालकियो में बैठा दिया और फिर सब लोग गालिब के घर पहुंचे। ग़ालिब अपने दोस्तो के साथ जुए मे मग्न थे। सिपाहियो ने अन्दर पहुच कर जुआरियो को रंगे हाथों पकड लिया। सभी गिरफ्तार कर लिए गए। कुछ लोगों ने वहां से निकलकर भागने की और पुलिस का मुकाबला करने की भी कोशिश की लेकिन उससे कोई लाभ नहीं हुआ। पैसे वाले व्यापारी तो किसी तरह अपने प्रभाव और पैसे के बल पर इस चक्कर मे बच निकले लेकिन गालिब अपने घर में जुए का अड्डा चलाने के आरोप में गिरफ्तार कर लिए गए। बाद मे उन्हें मैजिस्ट्रेट के सामने पेश किया गया और उन पर मुकदमा चलाया गया। उनके साथियो ने उन्हें बचाने का हर सम्भव प्रयत्न किया, यहां तक कि बादशाह ने भी उनकी हिमायत की। परन्तु नतीजा कुछ भी नहीं निकला और अन्त में उन्हें छः महीने की कडी कैद और 200 रुपये नकद जुर्माने की सजा दी गई। जुर्माना अदा न करने पर क़ैद की सज़ा साल भर के लिए बढाई जा सकती थी, साथ ही यह छूट दी गई कि अगर 50 रुपये अतिरिक्त अदा कर दिए जाएं तो उनसे जेल मे मेहनत नहीं कराई जाएगी। गालिब को छः महीने की पूरी अवधि जेल में नहीं बितानी पड़ी क्योंकि उन्हें दिल्ली के सिविल सर्जन डा० रॉस की सिफारिश पर तीन महीने बाद छोड़ दिया गया।

कैद की सजा से ग़ालिब के स्वाभिमान को बड़ी ठेस पहुंची। चूंकि जुर्माना अदा कर दिया गया था। इसलिए अब केवल सादी क़ैद की सज़ा रह गई थी और उन्हें जेल में कोई काम नही करना पड़ता था। इसके अलावा/जेल के अफसर उनके सामाजिक और साहित्यक यश से परिचित थे, इसलिए उनका बड़ा ख्याल रखते थे। उनके लिए जरूरत की चीजें घर से भेजी जाती थीं। इसके अलावा, उनसे मिलने के लिए आने वाले मित्रों के साथ किसी तरह की रोकटोक नही की जाती थी। इतना होने पर भी आखिर यह जेल की सज़ा थी और उन्हें एक नैतिक अपराध के लिए दण्ड मिला था। इससे जनता की नज़रों में उनकी इज्जत का गिरना स्वाभाविक था। ग़ालिब इस दुर्भाग्यपूर्ण घटना पर बहुत दुःखी रहा करते थे। समाज इस तरह की घटनाओ को क्षमा नहीं करता था, और सजायाफ़्ता लोग, चाहे उन्हें किसी भी जुर्म के लिए

सज़ा मिली हो, अच्छी निगाह से नहीं देखे जाते थे। नतीजा यह हुआ कि ग़ालिब एक लम्बे समय तक अन्याय से दुःखी रहे और उन्होंने एकाध बार तो यहां तक सोचा कि वे किसी दूसरे देश में चले जाएं, जहां लोग इस बात को लेकर उनकी हंसी न उड़ाएं और उनकी निन्दा न करें।

लेकिन यह घटना उनकी प्रतिष्ठा की दृष्टि से चाहे कितनी ही हानिकारक रही हो, साहित्य के लिए यह एक तरह का सौभाग्य सिद्ध हुई। जेल के दिनों में ग़ालिब ने फ़ारसी में एक लम्बी नज़्म लिखी, जिसमें उन्होंने अपनी भावनाओं और अन्तर-मन की स्थितियों का बड़ा प्रभावपूर्ण चित्रण किया है। इसमें उन्होंने अपने दुर्भाग्य पर आंसू बहाते हुए अपनी तक़दीर और उस समाज को बड़ा कोसा है, जिसने उनकी महानता की कोई क़द्र नहीं की और उन्हें शहर के चोर-उच्चक्कों के साथ क़ैद की सज़ा भुगतने के लिए मजबूर किया। इसमें उन्होंने अपने उन मित्रों की बड़ी प्रशंसा की है, जिन्होंने संकट के समय में भी उनका साथ नहीं छोड़ा। इस सिलसिले में उन्होंने ख़ासतौर से अपने एक बहुत बड़े मित्र और जाने-माने रईस नवाब मुस्तफ़ा का ज़िक्र किया है। ये उर्दू और फ़ारसी के शायर थे और अपनी फ़ारसी शायरी के बारे में अक्सर गालिब से इसलाह लिया करते थे। शाइफ़्ता भी ग़ालिब के गुणों के बहुत बड़े प्रशंसक थे तथा उर्दू और फ़ारसी के उस्ताद के रूप में उनका बड़ा सम्मान करते थे। ग़ालिब की गिरफ़्तारी की ख़बर मिलते ही वे उनकी सहायता के काम में जुट पड़े और उनकी रिहाई के लिए उन्होंने भरसक प्रयत्न किया। लेकिन उन्हें सफलता नहीं मिली। ग़ालिब पर मुक़दमा चला और उन्हें सज़ा हो गई। शाइफ्ता ने मुक़दमे का खर्च उठाने में भी उनकी बड़ी मदद की। ग़ालिब जब तक जेल में रहे, वे हर दूसरे दिन उनसे मिलने जाते थे और तनहाई का दुःख कम करने के उद्देश्य से काफ़ी देर तक उनके पास बैठे रहते थे। इसीलिए ग़ालिब उन्हें भूल नहीं सके और उन्होंने अपनी नज़्म में शाइफ़्ता की वफ़ादारी और दयानतदारी की बड़ी तारीफ़ की।

दरबारी इतिहासकार

जेल से छूटने के बाद ग़ालिब कुछ समय तक मौलाना नासिरुद्दीन उर्फ़ मियां काले साहब के साथ रहे, जो बहादुरशाह ज़फर द्वितीय के धार्मिक और अध्यात्मिक गुरु थे। ग़ालिब के सभी मित्रों को पता था कि इस समय उनकी आर्थिक स्थिति बहुत खराब है और उनके लिए किसी ऐसी स्थायी आमदनी की व्यवस्था की जानी चाहिए जिससे उनकी कुछ सहायता हो सके। बहादुरशाह जफ़र के मन्त्री और शाही हकीम थे अहसानुल्ला ख़ां, जो बहुत बड़े साहित्य-रसिक होने के साथ-साथ ग़ालिब के भी घनिष्ट मित्र थे। उन्होंने और मौलाना नासिरुद्दीन ने मिलकर बादशाह से ग़ालिब की सिफ़ारिश करने का प्रयास किया। इसके परिणामस्वरूप बादशाह ने जुलाई 1850 के आरम्भ में ग़ालिब को तैमूर के राजवंश का एक इतिहास फ़ारसी में लिखने का काम सौंपा और इसके लिए उनके नाम 600 रुपये सालाना का एक वज़ीफ़ा भीं मंजूर कर दिया। इसके अलावा बादशाह ने ग़ालिब को नज़्मुद्दौला, दबीरुल्मुल्क, निज़ामजंग का खिताब भी पेश किया। इस प्रकार ग़ालिब मुग़ल दरबार के कर्मचारी बन गए। उनका एक काम निश्चित हो गया और उनकी तनख्वाह भी मुकर्रर हो गई। साथ ही अहसानुल्ला ख़ां को यह आदेश दिया गया कि वे ऐतिहासिक तथ्य और सामग्री इकट्ठी करके ग़ालिब को दें ताकि ग़ालिब उसे फ़ारसी में व्यवस्थित रूप दे सकें। यह काम 1857 के 'ग़दर' की राजनैतिक उथल-पुथल के शुरू होने तक जारी रहा। ग़ालिब इस इतिहास

को दो खण्डों में समाप्त करना चाहते थे—पहला खण्ड तैमूर से हूमायूं तक और दूसरा खण्ड अकबर से बहादुरशाह द्वितीय तक। अहसानुल्ला खां को विभिन्न सूत्रों से तथ्य और सामग्री बटोर कर उसे फारसी में अनुवाद के लिए गालिब को देने का काम सौंपा गया था। लेकिन वे इस काम को नियमित रूप में नहीं कर सके क्योंकि उनके ज़िम्मे और भी बहुत से काम थे। इससे पहले खण्ड का काम कई साल तक जारी रहा और बड़ी मुश्किल से किसी तरह पूरा हो सका। ऐसा लगता है कि दूसरे खण्ड के लिए सामग्री बिल्कुल भी इकट्ठी नहीं हो सकी। जब गालिब ने देखा कि इस काम को जल्दी पूरा कराने में किसी को भी दिलचस्पी नही है तो उनका उत्साह भी ठण्डा पड़ गया और उन्होने अहसानुल्ला खा से सन्दर्भ-सामग्री की माग करना बन्द कर दिया। इस तरह दूसरा खण्ड तैयार ही नही हो सका। पहला खण्ड लालकिले के शाही छापाखाने से सन् 1854 मे 'मिहरेनीमरूज़' के शीर्षक से प्रकाशित हुआ। इसके बाद ग़ालिब के लिए कुछ समय तक सुख और समृद्धि के दिन रहे। बादशाह के साहित्य-परामर्शदाता मुहम्मद इब्राहीम जौक का नवम्बर 1854 में देहान्त हो गया। अब बादशाह ने उनकी जगह गालिब से राय लेना शुरू किया। बहादुरशाह द्वितीय के शाहज़ादे मिर्जा फ़खरुद्दीन ने भी ग़ालिब से इसलाह लेना शुरू किया। मिर्ज़ा फखरुद्दीन ने इसके लिए गालिब को 500 रुपये सालाना का वजीफ़ा भी देना शुरू किया। इसके साथ ही अवध के आखिरी नवाब वाज़िदअलीशाह से भी ग़ालिब को सालाना वजीफे के रूप में कुछ रकम मिलती थी। स्पष्ट है कि इन वज़ीफों की बदौलत ग़ालिब को अपनी को आर्थिक कठिनाइयो को हल करने में बड़ी सहायता मिली।

ग़दर

लेकिन दुर्भाग्यवश स्थिति को खराब होने मे देर नहीं लगी। मई 1857 में भारतीय इतिहास की वह घटना घटी, जिसे भारतीय जनता स्वाधीनता के प्रथम सग्राम के रूप में याद करती है और अंग्रेज़ों ने जिसे सिपाही-ग़दर या सैनिक-विद्रोह का नाम दिया। इसके फलस्वरूप भारतीय मच पर से तैमूर के राजघराने का नाम हमेशा के लिए गायब हो गया और देश पर एक विदेशी शक्ति का आधिपत्य हो गया। गालिब भी इस परिवर्तन के परिणामो से अछूते नहीं रह सके। गदर की यह घटना अंग्रेज़ों द्वारा किए जाने वाले राजनीतिक दमन और अत्याचार का ही एक परिणाम थी। अंग्रेज़ों द्वारा किए जाने वाले राजनीतिक दमन और अत्याचार का ही एक परिणाम थी। अंग्रेजो ने अपनी यह दमन नीति तभी से जारी रखी थी, जब से उन्होने व्यापारी के अपने मूल पेशे को त्याग कर शासक का रूप धारण कर लिया था। अंग्रेज़ कुछ और यूरोपीय देशों के लोगो के साथ सत्रहवीं शताब्दी के आरम्भ में व्यापारियो के रूप मे भारत आए थे। इस उद्देश्य से उन्होने इंग्लैंड मे एक शाही चार्टर के अन्तर्गत ईस्ट इंडिया कम्पनी की स्थापना की थी। वे लोग तब तक बड़ी मेहनत से व्यापार करते रहे, जब तक पहले आगरा मे और बाद में दिल्ली में मुग़लों की केन्द्रीय सरकार का शासन दृढ़ और प्रभावकारी रहा। सन् 1707 में औरंगजेब की मृत्यु के बाद साम्राज्य के सुदूर स्थित प्रदेशों पर दिल्ली सरकार का अधिकार ढीला पड़ने लगा तथा अव्यवस्था और आंतरिक युद्धों का युग आरम्भ हो गया। इस राजनीतिक अव्यवस्था की स्थिति में इंग्लैंड और फ्रांस की दोनो व्यापारी कंपनियों को अपने लिए एक स्वर्ण अवसर दिखाई दिया और उन्होंने इस देश मे अपना प्रभाव बढ़ाने के उद्देश्य से यहां की आंतरिक राजनीति मे अधिक सक्रिय रूप में भाग लेना शुरू कर दिया। वे अपने-अपने सशस्त्र

दस्ते रखने लगे और उन्होंने अपनी उन बस्तियों की किलेबन्दी भी कर ली, जहां उनके कारखाने और गोदाम वगैरह थे। विभिन्न राज्यों के शासकों में अपने समर्थक और पालतू लोगों को ठूसने के उद्देश्य से उन्होंने स्थानीय लड़ाई-झगड़ों में भी भाग लेना शुरू किया। कुछ ही दिनों में इंग्लैंड और फ्रांस के बीच की यह होड़ इस देश में अपना राजनीतिक प्रभाव कायम करने की होड़ बन गई।

इस देश मे काफ़ी लम्बे समय से शांति और समृद्धि का वातावरण था। इसका एक परिणाम यह हुआ था कि यहां के सामाजिक और प्रशासनिक ढाचे में कुछ शिथिलता आ गई। पुराने राजवंश ताश के महलों की तरह ढह रहे थे। शासकों के तख्ते आए दिन उलट रहे थे और रातों रात उनकी जगह नए राजा-नवाब पैदा हो रहे थे। इसमे सन्देह नहीं कि किसी भी महत्वाकांक्षी व्यक्ति के लिए किस्मत आज़माने का यह बडा अच्छा मौका था। कई साल तक अंग्रेज और फ्रासीमी अपने प्रभाव-क्षेत्रों का विस्तार करने की होड में लगे रहे। लेकिन इस होड़ में भाग्य ने अंग्रेजो का साथ दिया और उनका काफ़ी बड़े इलाके पर प्रभुत्व स्थापित हो गया। फ्रांसीसी धीरे-धीरे पीछे रह गए और उन्हें अंग्रेजों के लिए मैदान छोड़ना पड़ा। अब अंग्रेज़ों ने देश के काफी बड़े हिस्से पर या तो स्वयं ही आधिपत्य प्राप्त कर लिया था या बाकी बचे हुए हिस्से पर भी वे भाड़े के लोगों के ज़रिये कब्ज़ा करने की सिरतोड़ कोशिश कर रहे थे। इसका परिणाम यह हुआ कि जिन भारतीय राजाओं और नवाबों को अपने अधिकारों से हाथ धोना पड़ा था, वे अंग्रेज़ों से मन-ही-मन वैर रखने लगे। भीतर ही भीतर सुलगने वाली आग किसी संगठित विरोध के अभाव में अभी दबी हुई थी और भड़कने के लिए किसी उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा कर रही थी। संयोग से यह अवसर भी आ गया, जब ब्रिटिश सैनिक अधिकारियों ने अपने सैनिकों को एक नए ढंग के कारतूस देने का फ़ैसला किया। इन कारतूसों को दांत से छीलकर अलग करना पड़ता था। लोगों में यह अफ़वाह फैल गई कि अंग्रेज़ों ने इस प्रकार हिन्दुओं और मुसलमानों को धर्म भ्रष्ट करने की एक चाल चली है क्योंकि इन कारतूसों में चिकनाई के लिए गाय और सूअर की चर्बी का प्रयोग किया गया है।

इसके अलावा लोगों को यह अच्छी तरह से मालूम था कि अंग्रेज़ जब से भारत में आए हैं, वे यहां के निवासियों का धर्म-परिवर्तन करने और उन्हें अधिक-से-अधिक संख्या में ईसाई बनाने की कोशिश कर रहे हैं। इस बात में सच्चाई भी थी क्योंकि इसी के आधार पर ईस्ट इडिया कम्पनी के चार्टर को 1833 में एक नया रूप दिया गया था। अंग्रेज़ शासकों ने देश के विभिन्न भागों में ऐसे स्कूल और कालेजों की स्थापना की थी, जिनमें ईसाई धर्म की शिक्षा को नियमित पाठ्य-पुस्तक का अनिवार्य अंग बना दिया गया था। दिल्ली में भी पुराने दिल्ली कालेज के कुछ विद्यार्थियों ने खुले आम ईसाई धर्म ग्रहण कर लिया था, जिनमें मास्टर रामचन्द और डा० चमनलाल का नाम विशेषरूप से लिया था। अंग्रेज़ मिशनरियों की नीयत और हरकतों के बारे में आम जनता को पहले से ही सन्देह था और इस घटना के बाद तो लोगों को पक्का विश्वास हो गया कि ये पश्चिमी शासक उनके नौजवाओं को भ्रष्ट करने और उन्हें अपने पुश्तैनी धर्म से विमुख करने पर उतारू हैं। संदेह के इस वातावरण में कारतूस सम्बन्धी इस नई अफ़वाह ने आग में घी का काम किया। इस बात पर लोगों को तुरन्त विश्वास हो गया और सैनिकों में अशांति की आग भड़क उठी।

10 मई 1857 को मेरठ में एक सैनिक परेड के अवसर पर पहला विस्फोट हुआ। वहां के

सैनिकों ने अपने अंग्रेज कमाण्डर का हुक्म मानने से इन्कार कर दिया और विद्रोह कर दिया। उन्होंने बहुत-से अफसरों को मार डाला और जेल के दरवाजे तोड़कर अपने उन साथियों को छुड़ा लिया जिन्हें अनुशासन भंग करने के आरोप में पहले से फिरंगियों ने बन्द कर रखा था। उसी दिन शाम को काफी बड़ी तादाद में सैनिकों ने दिल्ली के लिए कूच कर दिया और दूसरे दिन 11 मई 1857 के सवेरे वे यहां पहुंच गए। उन्होंने बहादुरशाह से प्रार्थना की कि वे भारतीय सैनिकों की कमान सभाल लें और अपने आप को भारत का बादशाह घोषित कर दें। बहादुरशाह की उम्र उस समय 82 वर्ष थी और वे लोगों की प्रार्थना को स्वीकार करने से हिचकिचा रहे थे। लेकिन परिस्थितियों का दबाव इतना अधिक था कि वे अधिक समय तक इस माग को टाल नही सके। इस बीच अन्य कई नगरों में भी विद्रोह फैल चुका था। धीरे-धीरे विद्रोहियो के नेता राजधानी मे इकट्ठे होने लगे और उन्होंने एक अस्थायी सरकार की स्थापना कर ली तथा बहादुरशाह को उसका नेता नियुक्त कर दिया। दिल्ली के सभी अग्रेज सैनिकों और असैनिक अफसरों को या तो मार डाला गया या वे अपनी जान बचाकर शहर से भाग गए। पाच महीने से अधिक समय तक राजधानी पर भारतीय सेनाओं का कब्ज़ा रहा। अंग्रेज़ हिम्मत हारने की बजाय चुपचाप उचित अवसर की प्रतीक्षा करने लगे। अन्त में भाग्य ने उनका साथ दिया और उन्होंने लगातार प्रयत्न करके देश के विभिन्न भागों में विद्रोह का दमन कर दिया और अन्त मे दिल्ली की लडाई मे भी उनकी जीत हुई। 19 सितम्बर 1857 को उन्होंने दिल्ली पर फिर से कब्जा कर लिया।

इसके बाद बदले मे किए जाने वाले दमन का एक लम्बा युग आरम्भ हुआ। झटपट मुकदमें चलाकर हजारो नागरिको को फांसी पर लटका दिया गया, उनकी जमीन-जायदाद ज़ब्त कर ली गई या कडी-से-कडी सजा के एवज मे उनसे भारी जुर्माने वसूल किए गए। बहुत से लोग राजधानी को छोडकर दूसरे नगरों मे भाग गए और वहा उन्हे ग़रीबी और तगी की हालत में तब तक दिन काटने पडे, जब तक कि परिस्थिति कुछ शांत नही हुई और वे अपने घरों को वापस नहीं लौट सके।

इस विद्रोह के दौरान गालिब दिल्ली में ही रहे और शहर छोड़कर कही नही हुए। सच्चाई यह है कि कोई ऐसी जगह ही नही थी, जहा वे शरण लेते। उनके लिए यह बडी कठिनाई का समय था। पिछले काफ़ी लम्बे समय से उनकी आमदनी के सिर्फ दो ज़रिये रह गये थे—एक तो 750 रुपये वार्षिक की वह पेशन जो अग्रेजो के खजाने से मिलती थी और दूसरी 600 रुपये वार्षिक का वह वजीफा, जो उन्हें शाही परिवार का इतिहास लिखने के लिए बहादुरशाह से मिला करता था। जैसे ही विद्रोहियो ने दिल्ली मे प्रवेश किया और ब्रिटिश शासन समाप्त हुआ, वैसे ही ये दोनो ज़रिये खत्म हो गए। अंग्रेज़ों से पारिवारिक पेशन नहीं मिल सकती थी क्योंकि अग्रेजों का राज ख़त्म हो चुका था और उधर बहादुरशाह भी वज़ीफा नही दे सकते थे क्योकि एक तो उनकी स्थिति अनिश्चित थी और दूसरे उनके खज़ाने में इतने पैसे नहीं थे कि इस तरह के वादे पूरे किए जा सकते। ग़ालिब ने बड़ी मुश्किल से किसी तरह ये महीने गुज़ारे।

विद्रोह को तो असफल होना ही था क्योंकि मूलतः उसका आयोजन ही ठीक से नहीं हुआ था और उसकी तैयारी भी बिना किसी निश्चित योजना के बड़े अव्यवस्थित ढंग से हुई थी। विद्रोहियों के नेताओ के सामने कोई निश्चित और सुविचारित कार्यक्रम नहीं था। अलग-अलग शहरों के अपने अलग-अलग नेता थे और उनके बीच परस्पर विचार-विमर्श करने और

अपनी नीतियों मे तालमेल बैठाने का कोई साधन नहीं था। दूसरी ओर अंग्रेज़ों के पास अपना सगठित नेतृत्व और एक स्पष्ट उद्देश्य था। यहां तक कि भारत की आम जनता भी अंग्रेज़ों के विरोध में एकमत और एकजुट नही थी। उदाहरणार्थ–पजाब ने पूरे दिल से अंग्रेजों का समर्थन किया तथा पहले दिल्ली और उसके बाद लखनऊ के विरुद्ध ब्रिटिश आक्रमण में जिस फ़ौज ने आगे बढकर भाग लिया था, वह विभिन्न सिक्ख राज्यों से अग्रेजों को प्राप्त हुई थी। नेपाल राज्य ने भी अग्रेज़ो की सहायता की। उधर भारतीय विद्रोही सेनाओं को न तो कोई ढंग का प्रशिक्षण मिला था और न ही उनमें कोई सगठन था। एक-एक करके उनके किले गिरते गए और वर्ष के अन्त तक अंग्रेज़ों ने फिर से प्रभुत्व प्राप्त कर लिया। यहां तक कि उनकी शक्ति पहले से भी अधिक हो गई। शान्ति की स्थापना होने और दिल्ली पर फिर से अंग्रेज़ों का कब्जा हो जाने से ग़ालिब को यह आशा बंधी कि अब परिस्थिति सामान्य हो जाएगी और उनकी पारिवारिक पेंशन फिर से जारी हो जाएगी लेकिन बाद की घटनाओ ने उनकी इस आशा पर भी पानी फेर दिया।

ग़ालिब वैसे बड़े व्यवहारकुशल और दूर की सोचने वाले व्यक्ति थे। जब दिल्ली मे बग़ावत शुरू हुई तो कोई भी यह नहीं कह सकता था कि इसका नतीजा क्या होगा और ऊट किस करवट बैठेगा। इसलिए उन्होंने ब्रिटिश-विरोधी शक्तियों की गतिविधियो से अपने-आपको आम तौर से अलग ही बनाए रखा। लेकिन लाल किले से वे अपना सम्बन्ध पूरी तरह से नहीं तोड़ सके जो इन विद्रोही गतिविधियों का केन्द्र था और जहां विद्रोहियों के नेता बहादुरशाह का दरबार था। बादशाह को शायरी के बारे में राय देने वाले मुहम्मद इब्राहीम ज़ौक़ नवम्बर 1854 में मर चुके थे। इसके बाद से उनका ओहदा ग़ालिब संभाल रहे थे। दरबारी इतिहासकार होने के अलावा अपने इस नए काम की वजह से भी उनको लगभग नियमित रूप से ही बादशाह से मिलने जाना पड़ता था। दूसरी ओर, शहर में ऐसा कोई भी अंग्रेज़ अफ़सर बाकी नहीं बचा था, जिसके साथ गालिब सामाजिक सम्बन्ध बढ़ाते और दोस्ती क़ायम करते। इसलिए उन्होंने इमी में बुद्धिमानी समझी कि बहादुरशाह के दरबार से अपना सम्बन्ध क़ायम रखें और अपने विचारों को प्रकट न होने दें। इतनी सावधानी बरतने पर भी तक़दीर ने उनका साथ नहीं दिया।

'सिक्के का आरोप'

दिल्ली पर भारतीय सेनाओ का कब्ज़ा हो जाने पर भी अंग्रेज़ों ने शहर में और लालक़िले में भी अपने गुप्तचरों का बड़ा पक्का जाल बिछा रखा था। उनके जासूस हर तरह की ख़बरें, जिनमे कुछ प्रामाणिक होती थीं और कुछ सुनी-सुनाई, नियमित रूप से ब्रिटिश कमांडर के पाम भेजते रहते थे, जिसने कश्मीरी गेट के बाहर रिज पर अपना खेमा गाड रखा था। इस तरह के एक भेदिये ने एक दिन यह खबर पहुंचाई कि बहादुरशाह द्वारा बुलाए गए एक दरबार में ग़ालिब भी मौजूद थे और उन्होंने एक 'सिक्का' लिखकर बादशाह को भेंट किया था। यह असल में नए जारी किए जाने वाले एक सिक्के की इबारत थी। लेकिन यह आरोप सही नही था। सिक्के की यह इबारत, जो ग़ालिब के नाम की बताई गई थी, असल में एक दूसरे छोटे शायर की थी। यही नहीं, यह चीज़ उस तारीख के बहुत पहले ही एक पर्चे में छप चुकी थी, जिस तारीख के बारे में कहा गया था कि उस दिन ग़ालिब ने इसे बादशाह को भेंट किया था।

इतने पर भी उस भेदिये की रिपोर्ट सरकारी रिकार्ड में दर्ज रही। जब दिल्ली पर अंग्रेज़ों ने फिर से कब्ज़ा कर लिया और ग़ालिब दिल्ली के चीफ़ कमिश्नर से मिलने गए तो उनके सामने यह रिपोर्ट हाज़िर की गई। यह अंग्रेज़ों की दृष्टि में एक गम्भीर अपराध था, लेकिन क्योंकि ग़ालिब ने बग़ावत में अंग्रेज़ों के खिलाफ़ कोई सक्रिय भाग नही लिया था इसलिए उनकी जान बख़्श दी गई और उनकी संपत्ति भी जब्त नहीं की गई। सिक्के वाली इस घटना को शायर की एक छोटी-सी दुर्बलता मानकर माफ कर दिया गया। उन दिनों जबकि केवल थोड़ा-सा सन्देह होने पर ही लोगों को मौत की सज़ा दी जाती थी या जेल में ठूंस दिया जाता था, तब ग़ालिब के साथ की गई यह रियायत अपने-आपमें एक बड़ी बात थी। लेकिन इस आरोप का नतीजा यह निकला कि उनकी पारिवारिक पेंशन बन्द कर दी गई और उन्हें गवर्नर जनरल या लेफ्टिनेंट गवर्नर द्वारा बुलाए जाने वाले दरबारों में भी आमंत्रित किया जाना बंद कर दिया गया। उधर ग़ालिब यह आशा लगाए बैठे थे कि शान्ति की स्थापना के बाद पहले जैसी स्थिति कायम हो जाएगी। इस अप्रत्याशित घटनाक्रम से वे बहुत अधिक निराश हुए। उनकी स्थिति अच्छी होने की बजाय और भी बिगड़ गई। अगर इस मौके पर उनके कुछ मित्र और प्रशंसकों ने उनकी कोई सहायता न की होती तो उनकी कठिनाइयां इतनी बढ़ जातीं कि उन पर पार पाना उनके बस की बात नहीं रहती। सौभाग्य से इस अवसर पर रामपुर के नवाब यूसुफ़अली खां ने उनकी बड़ी मदद की।

रामपुर से सम्बन्ध

नवाब यूसुफ़अली ख़ां, जो 1855 मे अपने पिता मुहम्मद सईद ख़ा की जगह रामपुर के शासक बने थे शे'रो-शायरी के बड़े शौकीन थे और साहित्य में गहरी दिलचस्पी रखते थे। आरंभिक दिनों में उन्हें उनके पिता ने अपनी पढाई पूरी करने के लिए दिल्ली भेजा था। उन दिनों अन्य अध्यापकों के साथ ही ग़ालिब ने भी उन्हे पढ़ाया था और फ़ारसी की शिक्षा भी दी थी। उनके रामपुर लौटने पर यह सम्बन्ध समाप्त हो गया। जब वे 1855 में गद्दी पर बैठे तो ग़ालिब ने उनके नाम एक नज़्म लिखकर भेजी और अपने पुराने संबध को फिर से ताज़ा करने की कोशिश की। लेकिन इसका ख़ास कुछ असर नहीं हुआ और उन्हें ढंग का कोई जवाब नहीं मिला। ग़ालिब मन मारकर चुप हो रहे। 1857 के आरम्भ में ग़दर से पहले, ग़ालिब के एक घनिष्ठ मित्र मौलवी फ़ज़ल ख़ां रामपुर में थे और उनका नए नवाब पर ख़ासा असर था। उन्होंने ग़ालिब को राय दी कि एक 'क़सीदा' लिखकर नवाब के बीच पुराने सम्बन्ध फिर ताजा हो जाएंगे और बहुत मुमकिन है कि नवाब खुश होकर ग़ालिब के लिए कोई स्थाई पेंशन बांध दें या इनाम के रूप में एकमुश्त ही उन्हें कुछ रकम दे दे।

इस बार भाग्य ने ग़ालिब का साथ दिया। नवाब यूसुफ़अली ख़ां क़सीदा पाकर खुश ही नहीं हुए बल्कि उन्होंने ग़ालिब का शागिर्द बनने का भी फैसला कर लिया। इस नए सम्बन्ध को क़ायम हुए अभी मुश्किल से दो महीने बीते थे कि 1857 के ग़दर की आंधी आ गई। ग़ालिब ने इस बीच भी नवाब के साथ ख़तो-किताबत जारी रखी। इसके पहले उन्हे नवाब से कभी-कभी आर्थिक सहायता मिल जाती थी, हालांकि उनका कोई नियमित वेतन नहीं तय हुआ था। जब अंग्रेज़ दिल्ली में वापस लौट आए और उनके साथ पुरानी मैत्री स्थापित करने में ग़ालिब को सफलता नहीं मिली और उनकी पारिवारिक पेंशन फिर जारी नहीं हो सकी तो उन्होंने नवाब से

प्रार्थना की कि उनके लिए कोई स्थाई वजीफ़ा बाध दिया जाय ताकि उनको आर्थिक चिन्ताओ से मुक्ति मिल सके। इस पर नवाब यूसुफ़अली ख़ा ने रामपुर के खजाने से उनको प्रतिमास 100 रुपये का वजीफ़ा भेजने का हुक्म जारी कर दिया।

'दस्तन्बू'

ग़दर की उथल-पुथल के दिनों में ग़ालिब अपने घर पर ही रहते थे और उनके पास करने के लिए ख़ास कोई काम भी नहीं था। इसलिए उन्होंने उस समय शहर मे जो कुछ हो रहा था, उसके बारे में कुछ टिप्पणियों लिखी थीं। यह दैनंदिन की घटनाओं का कोई नियमित लेखा नहीं था, बल्कि खास-खास बातों के बारे में कुछ ऐसी टिप्पणियां ही थीं, जिनका बाद मे कभी उस युग की घटनाओ का कोई विस्तृत विवरण तैयार करते समय उपयोग किया जा सकता था। जब अंग्रेजों ने दिल्ली पर फिर से कब्ज़ा कर लिया तो ग़ालिब ने अपनी इन टिप्पणियों को कुछ व्यवस्थित करके फ़ारसी में एक छोटी-सी किताब तैयार कर दी और उसका नाम रखा—'दस्तन्बू'। उनका दावा था कि इसमें मैंने अरबी का एक भी शब्द इस्तेमाल नहीं किया है लेकिन उनका यह दावा पूरी तरह से सही नहीं था। उनकी भरसक कोशिश के बावजूद अरबी के कुछ शब्द उसमें आ ही गए। उल्टे यह हुआ कि दैनिक व्यवहार में आने वाली अरबी की शब्दावली से बचने के उनके यत्नपूर्ण प्रयास के फलस्वरूप फ़ारसी के कुछ ऐसे टकसाली शब्द भी आ गए, जिनमें से अधिकांश उस समय पुराने पड़ चुके थे और आम व्यवहार में नहीं आ रहे थे। इससे यह किताब पढ़ने में खासी बोझिल हो गई और इसे समझ पाना भी मुश्किल हो गया।

उस समय की घटनाओ के बारे में एक सन्दर्भ-पुस्तक के रूप में भी इस पर पूरी तरह से भरोसा नहीं किया जा सकता। हम देख चुके है कि गदर के दौरान ग़ालिब ने बहादुरशाह से अपने सम्बन्ध बनाए रखे थे और कभी-कभी परिस्थितियों से विवश होकर उन्हें अंग्रेज़-विरोधी तत्वो से भी मिलना-जुलना पड़ता था। हालांकि उन्होने अंग्रेज़ों के खिलाफ ऐसे कोई ठोस कदम नहीं उठाए थे, जिससे उनकी स्थिति पर आच आने की सम्भावना होती। लेकिन इतना होने पर भी उनका मन यह सोचकर चिन्तित रहता था कि उनके इस निष्क्रिय रवैये को भी अंग्रेज़ो की नजर में काफी नही मांना जाएगा। उल्टे, बादशाह के साथ उनके मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों को उनके अंग्रेज-विरोधी होने का प्रमाण माना जा सकता है। इसलिए जब उन्होंने अपनी टिप्पणियों के आधार पर 'दस्तन्बू' की रचना की तो उन्होने यह प्रयास किया कि इसमें उल्लिखित घटनाओं में न तो भारतीय सैनिकों की त्रुटियों को कम करके प्रस्तुत किया जांए और न अंग्रेज सैनिको के अत्याचार को बढ़ा-चढ़ाकर बताया जाए। इसके अलावा, शुरू से ही वे सोच रहे थे कि इस किताब के तैयार होते ही वे इसकी भेंट स्वरूप प्रतियां अंग्रेज़ अफ़सरों, अपने कुछ मित्रो और संरक्षकों के नाम भेजेंगे। उन लोगों को इसके किसी अश पर आपत्ति न हो, इसलिए उन्होंने कुछ घटनाओं को बहुत बढ़ा-चढ़ाकर और कुछ को बहुत ही मामूली ढंग से पेश किया था। स्पष्ट हैं कि ऐसी रचना इतिहास की एक विश्वसनीय सन्दर्भ-पुस्तक के रूप में नहीं मानी जा सकती। ग़ालिब ने यह पुस्तक इस उद्देश्य से लिखी थी कि वे इसके आधार पर अंग्रेज़ अधिकारियों से अपने नए सम्बन्ध कायम कर सकेंगे और कठिनाई के समय इस अपनी मित्रता को सबूत के रूप में पेश कर सकेंगे। जब यह पुस्तक प्रकाशित हुई तो ग़ालिब ने इसकी भेंटस्वरूप प्रतिया भारत और इंग्लैंड के कुछ प्रतिष्ठित

अंग्रेज़ों के पास भेजी। लेकिन यह पुस्तक अपना कोई प्रभाव छोड़ने में असफल रही और इससे वह बात नहीं बन सकी जिसकी ग़ालिब को उम्मीद थी। इस पुस्तक की एक सबसे बड़ी कमज़ोरी इसकी भाषा थी, जिसे समझना आसान नहीं था। इस तरह अधिकारियों से मेल-जोल बढ़ाने का उनका निजी प्रयास असफल सिद्ध हुआ। इस बीच उनके बहुत से मित्र अधिकारियों से उन्हें क्षमा प्रदान करवाने में लगे रहे, परन्तु अगर रामपुर के नवाब ने ग़ालिब की सिफ़ारिश न की होती तो इसमें बहुत सन्देह है कि उनके मित्रों का प्रयास कभी सफल भी हो पाता। अन्त में मई 1860 में अंग्रेज़ों ने अपना पिछला आदेश वापस ले लिया और इस तरह उनकी पारिवारिक पेंशन फिर से चालू हो गई। तीन साल बाद मार्च 1863 में सरकारी दरबारों में शरीक होने का उनका अधिकार भी उन्हें वापस मिल गया। इस प्रकार उनके लिए पूर्व स्थिति फिर लौट से लौट आई।

'क़ाति' बुरहन

ग़ालिब मूलतः एक शायर और लेखक थे। आर्थिक कठिनाइयों और सांसारिक चिन्ताओं के बावजूद वे अधिक समय तक अपने आपको साहित्यिक गतिविधियों से दूर नहीं रख सके। गदर के दिनों में ग़ालिब कभी-कभी लालक़िले में जाने के अलावा आमतौर से अकेले ही रहते थे और घर से बाहर बहुत कम निकलते थे। वे हमेशा से बहुत अधिक पढ़ने वाले थे और उनकी स्मरण शक्ति भी बहुत अच्छी थी। इन दिनों पुस्तकें ही उनकी सबसे बड़ी मित्र थीं। इन पुस्तकों में फ़ारसी के प्रसिद्ध शब्दकोष 'बुरहन-ए-क़ाति' की एक प्रति भी थी, जिसे वे खाली समय में अक्सर उलटते-पलटते रहते थे। इस प्रसिद्ध शब्दकोष का संकलन मुहम्मद हुसैन तब्रीजी ने किया था और इसका नया संस्करण कलकत्ता से प्रकाशित हुआ था। इसको उलटते-पलटते समय ग़ालिब को इसमें बहुत-सी त्रुटियां नज़र आई। उन्होंने इसमे प्रत्यक के हाशिये पर अपनी समीक्षात्मक टिप्पणियो को नोट करना शुरू किया। धीरे-धीरे ये नोट और टिप्पणियां इतनी अधिक हो गईं कि राजधानी की स्थिति सामान्य होने के बाद ही गालिब ने अपने शिष्यों और मित्रों के लाभ के लिए उनकी नक़ल तैयार करवा ली। शुरू में उनकी इच्छा इसे प्रकाशित कराने की नहीं थी, लेकिन बाद में उनके कुछ मित्रों ने राय दी कि इसके प्रकाशन से सामान्य पाठक को बड़ा लाभ होगा और फ़ारसी के विद्वान के रूप में उनकी प्रतिष्ठा भी बढ़ेगी। ग़ालिब ने अब तक भारत के फारसी लेखकों की आलोचना ही की थी और वे कहते आए थे कि जहां तक फ़ारसी भाषा का सम्बन्ध है, इनमें से किसी के प्रमाण को विश्वसनीय नहीं माना जा सकता। 'बुरहन-ए-क़ाति' के सम्पादक और संकलनकर्त्ता भी भारत मे ही जन्में थे हालांकि उनके पूर्वज ईरानी मूल के थे। लोगों ने ग़ालिब को इस कोश के सम्बन्ध में अपनी समीक्षाओं को प्रकाशित कराने की राय दी ताकि भारतीय लेखकों के सम्बन्ध में उनकी पुरानी मान्यता को बल मिल सके। अन्त में यह पुस्तक 1862 में 'क़ाति' बुरहन के शीर्षक से प्रकाशित हुई। लेकिन इसने तो जैसे किसी बर्रे के छत्ते को छेड़ दिया। मानव प्रकृति आमतौर से किसी प्रकार का परिवर्तन पसन्द नही करती। हम में से अधिकाश अपने पूर्वजों के चरणचिन्हों पर चलना जारी रखते हैं क्योंकि हमें परिवर्तन या किसी अन्य प्रयोग को आज़माते हुए डर लगता है। इससे भी बड़ी बात यह है कि कई बार ऐसा होता है कि हम यह जानते हुए भी कि कोई चीज़ युक्तिहीन और निरर्थक है, तबभी हम उसी से चिपके रहते हैं, क्योंकि यह हमें

अपने पूर्वजों से प्राप्त है और हम उसमें रद्दोबदल करते हुए लोकमत से भयभीत रहते हैं। जीवन के सभी क्षेत्रों की तरह यह बात ज्ञान और शिक्षा के क्षेत्र में भी लागू होती है। 'बुरहन-ए-कातिं' को एक लम्बे समय से फ़ारसी साहित्य के एक प्रामाणिक कोश के रूप में मान्यता प्राप्त थी। सभी विद्वानों ने उसकी विश्वसनीयता की पुष्टि की थी। इसलिए उसके विरुद्ध बोलने का मतलब था एक तरह की गुस्ताखी और एक अधार्मिक कृत्य। और ग़ालिब को इसका दोषी करार दिया गया। पुस्तक के प्रकाशित होते ही एक तूफ़ान-सा उठ खड़ा हो गया। ग़ालिब के मत का खण्डन करते हुए एक के बाद एक किताबें और पुस्तिकाएं निकलने लगीं। ग़ालिब और उनके साथियों ने भी इन आलोचनाओं के सामने सिर झुकाना ठीक नहीं समझा। उन्होंने इनका भरसक सामना किया। जैसे-जैसे समय बीतता गया, विरोध कम होता गया लेकिन बिलकुल समाप्त नहीं हो सका। यहां तक कि इस मामले में मानहानि की एक बात को लेकर ग़ालिब को अदालत की शरण लेनी पड़ी और अमीनुद्दीन नाम के एक घटिया लेखक के विरुद्ध हरजाने का दावा करना पड़ा। इसमें भी उन्हें सफलता नहीं मिली। उसी समय के कुछ जाने माने विद्वानों ने उस लेखक की जान बचाने के उद्देश्य से आपत्तिजनक शब्दों का कुछ उल्टा-सीधा अर्थ लगाकर अपमान की गम्भीरता को कम करने का प्रयास किया। ग़ालिब को अदालत के बाहर समझौता करके अपना दावा वापस लेना पड़ा।

दरबारी शायर

जब 1860 में उनकी पेंशन जारी हो गई और 1863 में उन्हें सरकारी दरबारों में शामिल होने का हक़ फिर से मिल गया तो वे कुछ अतिरिक्त सम्मान की आकांक्षा करने लगे। उन्होंने एक आवेदन प्रस्तुत किया कि उन्हें इंग्लैंड की महारानी का राजकवि नियुक्त किया जाए और उनकी पुस्तक 'दस्तन्बू' को सरकारी संरक्षण में प्रकाशित किया जाए। लेकिन जैसी कि आशा थी, ये दोनों मांगे अस्वीकृत हो गई। ऐसा लगता है कि अधिकारियों के इस निर्णय के पीछे समकालीनों के ईर्ष्या-द्वेष का प्रमुख हाथ था। इंग्लैंड से गृह- मत्रालय के अधिकारियों का जो उत्तर प्राप्त हुआ, वह काफी उत्साहवर्धक ही नहीं, बल्कि ग़ालिब के लगभग पक्ष में था। उनका कहना था कि ग़ालिब को महारानी का राजकवि नियुक्त नहीं किया जा सकता लेकिन यदि गवर्नर जनरल उन्हें दरबारी शायर के रूप में नियुक्त करना चाहें तो सरकार को इसमें कोई आपत्ति नहीं होगी। इस पर गर्वनर जनरल की कौंसिल ने इस सम्बन्ध में एक रिपोर्ट मांगी कि ग़दर के दिनों में ग़ालिब का व्यवहार कैसा था। जांच-पड़ताल के दौरान बहादुरशाह के लिए लिखे गए उनके तथाकथित 'सिक्के' के बारे में सरकारी भेदिए की रिपोर्ट एक बार फिर सामने आई।

सबसे मज़े की बात तो यह है कि उन्हें इसके आधार पर ब्रिटिश विरोधी नहीं तो कम से कम विद्रोहियों का समर्थक माना गया। इससे गवर्नर जनरल के दरबारी कवि के रूप में नियुक्ति की जो थोड़ी बहुत सम्भावनाएं थीं, उन पर भी पानी फिर गया। फिर भी उनके मामले को पंजाब के लेफ्टिनेंट गवर्नर के पास भेजा गया और आदेश जारी किया गया कि ग़ालिब की दोनों मांगों के सिलसिले में अपने स्तर पर कार्यवाही करके और रिपोर्ट दें।

साहित्यिक लोकप्रियता

यद्यपि ग़ालिब की आर्थिक स्थिति में कोई विशेष सुधार नहीं हुआ और उन्हें अपना काम चलाने के लिए लगातार संघर्ष करना पड़ा लेकिन साहित्य जगत् में उनकी प्रतिष्ठा में बराबर वृद्धि होती गई। 1857 की राजनीतिक उथल-पुथल के पहले उनकी उर्दू और फ़ारसी रचनाओं के संग्रह प्रकाशित हो चुके थे। उर्दू 'दीवान' के 1841 और 1857 में दो संस्करण प्रकाशित हो चुके थे और 1845 में फ़ारसी 'दीवान' का पहला संस्करण प्रकाशित हुआ था। जनता अब उनकी पुस्तकों की फिर मांग कर रही थी क्योंकि पुराने संस्करण समाप्त हो चुके थे और उनकी प्रतियां प्राप्य नहीं थीं। विशेष रूप से उर्दू 'दीवान' की बहुत अधिक मांग थी। स्वयं ग़ालिब के पास उसकी कोई प्रति नहीं थी। किसी तरह से उन्होंने उसकी एक प्रति कहीं से प्राप्त की और उसे छपवाने के लिए तैयार किया। इसका प्रकाशन 1861 में हुआ। लेकिन नया संस्करण ठीक से नहीं छपा। उसकी साज सज्जा या लिखावट पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया। इसके अलावा उसमें छपाई की भूलें भी बहुत अधिक संख्या में रह गईं। इसलिए ग़ालिब ने स्वयं उसकी एक प्रति का संशोधन किया और उसे कानपुर के प्रसिद्ध निज़ामी प्रेस में छपने के लिए भेजा, जहां से वह अगले साल अर्थात 1862 में प्रकाशित हुई। इसी साल लखनऊ के प्रसिद्ध प्रकाशक मुंशी नवलकिशोर दिल्ली आए और उन्होंने ग़ालिब से उनके फ़ारसी 'दीवान' का नया संस्करण प्रकाशित करने की अनुमति मांगी। ग़ालिब ने कभी भी स्वयं अपनी रचनाओं को सम्भालकर नहीं रखा। उनकी रचनाएं उनके दो घनिष्ठ मित्रों—नवाब ज़ियाउद्दीन अहमद ख़ां और नज़ीर हुसैन मिर्ज़ा के पास सुरक्षित रखीं थीं। इनमें से पहले के पास फ़ारसी की रचनाएं थीं और दूसरे के पास उर्दू की। ग़ालिब ने मुंशी नवलकिशोर का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया और उन्हें नवाब ज़ियाउद्दीन अहमद ख़ां के पास भेज दिया। मुंशीजी अपने साथ पांडुलिपि लखनऊ ले गए। लेकिन कई कारणों से उसका मुद्रण जल्दी पूरा नहीं हो सका। यह पुस्तक लगभग एक साल बाद 1863 के मध्य में प्रकाशित हुई।

उनकी उर्दू और फ़ारसी शायरी के इन अनेक संस्करणों से पता चलता है कि पाठकों के बीच उनकी लोकप्रियता बढ़ती जा रही थी। तीन साल की छोटी-सी अवधि में उनकी रचनाओं के चार संस्करणों का निकल जाना इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि जनता का सम्मान उन्हें प्राप्त हो रहा था और अब लोग बड़ी बेसब्री के साथ उनकी रचनाओं की प्रतीक्षा करते थे।

रामपुर की यात्रा

नवाब यूसुफ़अली ख़ां ने, जो 1857 के शुरू में ग़ालिब के शागिर्द बने थे यह देखकर कि उनकी आर्थिक स्थिति बहुत ख़राब है, उन्हें रामपुर आने के लिए आमंत्रित किया। उस समय ग़ालिब को इसकी बड़ी उम्मीद थी कि परिस्थिति शीघ्र ही सामान्य हो जाएगी और उन्हें फिर से सरकारी कृपा प्राप्त हो जाएगी। इसलिए उन्होंने नवाब को उत्तर भेजा कि जैसे ही अंग्रेज़ अधिकारियों के साथ उनके सम्बन्ध अच्छे हो जायंगे, वे बड़ी ख़ुशी से रामपुर की यात्रा करेंगे। परन्तु उनकी उम्मीदें पूरी नहीं हुई और अधिकारियों ने उनकी किसी प्रार्थना पर ध्यान नहीं दिया। इस बीच रामपुर से मिलने वाली सहायता के अलावा उनकी आमदनी के सभी रास्ते बन्द हो चुके थे। फलस्वरूप, उन्होंने नवाब यूसुफ़अली ख़ां का निमंत्रण स्वीकार कर लेना ठीक समझा। दिल्ली में जीवन भी सुरक्षित नहीं था। ऐसे बहुत-से लोग, जिन्होंने बहादुरशाह

द्वितीय के दरबार से किसी प्रकार का सम्बन्ध रखा था या जिन्होंने उनकी नौकरी की थी, गिरफ्तार कर लिए गए और उन पर मुकदमे चलाए गए तथा अन्य बहुत-से लोगों को, जो भाग गए थे, बराबर परेशान किया जा रहा था और उनका जीवन अब भी ख़तरे से खाली नहीं था। ग़ालिब पर भी इस आरोप के कारण सन्देह किया जा रहा था कि उन्होंने बादशाह के लिए 'सिक्के' की इबारत लिखी थी। इसलिए उन्होंने सोचा होगा कि फ़िलहाल कुछ समय तक दिल्ली से दूर रहना ही ठीक है। रामपुर जाने का निर्णय करते समय वे इस बात से तो प्रभावित हुए ही होंगे कि उन्हें नवाब से नियमित रूप से माहवारी वज़ीफ़ा मिल रहा है, साथ ही उन्होंने यह भी सोचा होगा कि नवाब की सहायता से सम्भवत: वे अंग्रेजों के साथ कोई सन्तोषप्रद समझौता कर सकेंगे। ग़दर के दौरान नवाब अंग्रेज़ों के बहुत पक्के और दृढ़ समर्थक बने रहे थे। उन्होंने अंग्रेज़ों को धन और सशस्त्र सैनिकों की सहायता दी थी। इसलिए अंग्रेज़ अधिकारी उनके बहुत कृतज्ञ थे और उनकी इन सेवाओं के बदले उन्होंने रामपुर की वर्तमान रियासत के आसपास के यू०पी० के कुछ ज़िले भी इनाम के रूप में दे दिए थे। ग़ालिब को इन सारी बातों का पता था तथा इतनी कठिन परिस्थितियों में रहने के कारण वे यह भी समझने से नहीं चूके होंगे कि इस समय नवाब के प्रभाव का उपयोग करने के अलावा उनके लिए शायद और कोई चारा नहीं है। इसलिए जनवरी 1860 में वे रामपुर के लिए रवाना हो गए।

इस समय ग़ालिब का कोई भी बच्चा जीवित नहीं था। उनके अब तक सात बच्चे हुए थे, लेकिन उनमें से प्रत्येक शैशवावस्था में ही चल बसा था। उनमें से किसी ने 18 मास से अधिक की आयु प्राप्त नहीं की। पहले उन्होंने अपनी पत्नी के भानजे ज़ैनुलआबिदीन ख़ां को गोद लिया, जो खासे अच्छे शायर थे और 'आरिफ़' के नाम से शायरी करते थे। आरिफ़ 1852 में जवानी में ही अपने पीछे दो लड़कों को छोड़कर तपेदिक से चल बसे। इनमें से बड़े लड़के बाकिरअली ख़ां को ग़ालिब की पत्नी पालने के लिए अपने साथ ले आईं। इससे छोटा हुसैनअली ख़ां जो उस समय मुश्किल से दो साल का था, ग़ालिब की साली के साथ ही रहा। दुर्भाग्यवश कुछ ही दिनों में वह भी गुज़र गईं। अब छोटा लड़का भी ग़ालिब के यहां ही रहने लगा। ग़ालिब की पत्नी ने इन दोनों बच्चों को पाला-पोसा। वे इन्हें अपने पोतों की ही तरह पालती थीं। जब ग़ालिब रामपुर गए तो दोनों लड़के उनके साथ थे। ग़ालिब रामपुर में दो महीने से ज़्यादा रुके। वे वहां कुछ दिन और रुकना चाहते थे क्योंकि उन्हें दिल्ली वापस आने की कोई ख़ास जल्दी नहीं थी और रामपुर में उन्हें काफी आराम था। इतना होने पर भी उन्हें जल्दी वापस लौटना पड़ा क्योंकि दोनों बच्चे वहां के नये वातावरण में ऊब उठे थे और घर के लिए बैचेन रहने लगे थे।

सम्मान की पुन: प्राप्ति

जब ग़ालिब रामपुर में थे, तभी नवाब ने ब्रिटिश अधिकारियों से उनकी सिफ़ारिश कर दी थी, और इसके फलस्वरूप मई 1860 में उनकी पेंशन फिर से ज़ारी हो गई थी।

कोई इस बात पर आश्चर्य कर सकता है कि आख़िर ग़ालिब 750 रुपये वार्षिक की इस मामूली-सी पेंशन को फिर से ज़ारी कराने के लिए क्यों इतने व्यग्र थे। इसका उत्तर यह है कि यह उनके लिए आमदनी का एकमात्र निश्चित और स्थायी साधन था। और कोई आमदनी तो आकाशवृत्ति के समान थी और भाग्य के भरोसे ही प्राप्त हो सकती थी। इस प्रकार किसी दिन

अचानक प्राप्त होने वाली रकम की आशा के आधार पर कोई नहीं जी सकता। जीवन की कोई योजना और कार्यक्रम बनाने के लिए आय के किसी अधिक स्थायी साधन की आवश्यकता होती है। ग़ालिब के लिए पेंशन ही एक लम्बे समय से जीविका का निश्चित आधार थी। साथ ही यह उनके लिए सम्मान और गर्व का भी कारण थी। इसका आसानी से अन्दाज लगाया जा सकता है कि पेशन का बन्द होना उनके विरोधियों के बीच एक सुखद चर्चा का विषय बन गया होगा। इसके अलावा, इस पेशन की बदौलत ही उन्हे अब तक ब्रिटिश अधिकारी क्षेत्रो में आसानी से प्रवेश पाने की सुविधा प्राप्त थी। सरकारी दरबारों में उन्हें दरबार के सदर की, चाहे वह गर्वनर जनरल हो या लेफ्टिनेंट गवर्नर, दाहिनी ओर दसवीं कुर्सी का सम्मान प्राप्त था। पेंशन की मामूली रकम को देखते हुए यह एक बहुत बड़ा सम्मान था और निश्चय ही उनके समकालीनो के लिए ईर्ष्या का विषय रहा होगा। इसलिए यह समझना मुश्किल नहीं है कि गालिब अपनी पेंशन और राजसभाओं मे सम्मिलित होने के अपने अधिकार के लिए क्यों इतने अधिक चिन्तित रहते थे।

मेरठ से भारतीय सेनाए 11 मई 1857 को दिल्ली पहुंची थीं। इसके पहले गालिब को अप्रैल 1857 की पेंशन मिल चुकी थी। अब मई 1860 में उन्हें 750 रुपये वार्षिक के हिसाब से मई 1857 से अप्रैल 1860 तक की तीन वर्ष की बकाया रकम के रूप मे 2,250 रुपये मिले, जिनमें से 100 रुपये मार्च 1859 मे अदा की गई पेशगी रकम के रूप में काट लिए गए। अब 2,150 रुपये की कुल रकम में से उन्होंने 150 रुपये उसी दरबार के छोटे नौकर-चाकरों में बख्शीश के रूप मे बांट दिए। जो 2,000 रुपये बच गए थे, उनमें से 1,500 रुपये उन्हें उस आदमी को देने थे, जो पिछले इन वर्षों में उनके लिए ज़रूरत की चीज़ें मुहैया करता रहा था। इसके अलावा अभी उन्हे 1,100 रुपये का कुछ अन्य लोगों का कर्ज़ भी चुकाना था। ज़ाहिर है कि बकाया पेंशन के रूप में उन्हें जो कुछ मिला था, वह इन सारे खर्चों को पूरा करने की दृष्टि से पर्याप्त नहीं था। फिर भी पेशन के फिर से जारी हो जाने से उन्हें नई आशा बधी और उनका उत्साह भी बढा। उन्हें लगा कि अभी सब कुछ नष्ट नहीं हो गया है और वे अंग्रेज अधिकारियों के साथ मैत्री सम्बन्ध बनाने की उम्मीद कर सकते हैं, जबकि पहले वे इस उम्मीद को ही छोड़ चुके थे। इसके बाद उन्होंने दूने जोश के साथ अपनी 'ख़िलअत' के लिए और दरबार में भाग लेने के अपने अधिकार के लिए कोशिश जारी कर दी। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, दरबार में भाग ले सकने का सम्मान उन्हें विलियम बैंटिंक के जमाने में 1823 में उस समय प्रदान किया गया था, जब वे अपनी पेशन के मुकदमे के सिलसिले में केन्द्रीय सरकार से अपील करने के लिए कलकत्ता गए हुए थे। 'ख़िलअत' का सम्मान उन्हें काफी बाद मे प्राप्त हुआ था। इसमे विभिन्न किस्मों के कपड़ो के सात पूरे थान, एक कीमती जडाऊ सिरपेच और मोती की एक माला होती थी। जब वे दरबार में शरीक होते थे तो उन्हे दरबार के सदर को कोई नकद नज़राना अदा नही करना पड़ता था। इसके बदले में वे उसकी तारीफ़ में एक क़सीदा पढ़ दिया करते थे।

पुरानी स्थितियो के बहाल हो जाने पर भी उनकी तंगदस्ती पहले की तरह ही कायम रही। इससे बचने का अब कोई चारा नही था। इसी बीच उनके मुख्य संरक्षक नवाब यूसुफअली ख़ां की अप्रैल 1865 में कैंसर से मृत्यु हो गई।

कलबअली ख़ां

नवाब यूसुफ़अली ख़ां की जगह उनका बडा लड़का नवाब कल्बअली खा गद्दी पर बैठा।

ग़ालिब को नए नवाब और शोकसन्तप्त परिवार के प्रति अपनी संवेदना प्रकट करने के लिए रामपुर जाना पड़ा। रामपुर की उनकी इस दूसरी यात्रा के पीछे शायद मातमपुर्सी से भी अधिक महत्वपूर्ण एक और कारण था। उन्हें यह चिन्ता थी कि स्वर्गीय नवाब की ओर से उन्हें जुलाई 1859 से जो 100 रुपये का वजीफ़ा मिल रहा था, वह अब कहीं बन्द न कर दिया जाए। स्वर्गीय नवाब यूसुफअली खां उनके शागिर्द थे और उनसे अपनी उर्दू नज़्मों के बारे में इसलाह लिया करते थे। इसलिए यह मासिक वज़ीफ़ा उनकी सेवाओं के बदले एक प्रकार का मुआवज़ा या तनख्वाह माना जा सकता था। लेकिन नए नवाब के साथ ग़ालिब का ऐसा कोई रिश्ता नहीं था। वह उनका शागिर्द नहीं था और अगर वह इस वजीफे को बन्द कर देता तो कोई अन्याय नहीं करता। लेकिन इससे ग़ालिब की कठिनाइयां बढ़ सकती थीं। इसलिए उनके लिए यह जरूरी हो गया कि वे नए नवाब से मिलकर इन्तज़ाम करें कि उनके खिलाफ़ ऐसा कोई सख्त कदम न उठाया जाए। इसलिए ग़ालिब रामपुर गए और नए नवाब की तख्तपोशी में शरीक हुए। नवाब ने आश्वासन दिया कि उनका वज़ीफ़ा पहले की तरह जारी रहेगा। इससे ग़ालिब को वास्तव में बड़ी सान्त्वना मिली होगी।

जब ग़ालिब रामपुर में थे, तभी उन्हें पजाब सरकार से एक पत्र मिला, जिसमें उनसे कहा गया था कि वे अपनी पुस्तक 'दस्तन्बू' की एक प्रति चीफ़ सेक्रेटरी के पास भेज दें। ज़ाहिर था कि यह पत्र उनके उसी पिछले आवेदन के उत्तर में था, जिसमें प्रार्थना की थी कि उनकी पुस्तक को भारत सरकार गदर के इतिवृत्ति के रूप में प्रकाशित करे। रामपुर में उन्हें इस पुस्तक की जो प्रति मिली, वह ऐसी हालत में नहीं थी कि उसे सरकार के पास भेजा जा सकता। ग़ालिब को बड़ी उम्मीद थी कि अगर सरकार ने इस पुस्तक को प्रकाशित कर दिया तो इससे उन्हें काफी आर्थिक लाभ होगा और उन्हें अनेक सामाजिक सुविधाएं भी प्राप्त हो सकेंगी। उन्होंने तुरन्त उसका नया संस्करण कराने का प्रबन्ध किया और एक संशोधित प्रति मुद्रण के लिए बरेली अपने कुछ मित्रों के पास भेज दी। कुछ समय बाद एक दूसरे संस्करण की एक प्रति उन्होने पंजाब सरकार के पास भेजी। सरकार ने इसके सम्बन्ध मे एक विशेषज्ञ मे रिपोर्ट मांगी। वह विशेषज्ञ या तो इस बोझिल पुस्तक को समझ नहीं सका या शैली की प्रशंसा नहीं कर सका। उसने यह कहते हुए एक प्रतिकूल रिपोर्ट भेज दी कि इसकी भाषा पुरानी फ़ारसी है, जिसमे काफ़ी बडी संख्या मे ऐसे शब्द भी आ गए है जो अब प्रयोग मे नही आते, इसलिए इसे समझ पाना कठिन है।

अपने अंतिम आदेश में गवर्नर जनरल ने निर्णय दिया कि ग़ालिब को उनका दरबारी कवि नियुक्त नहीं किया जा सकता, लेकिन पंजाब के लेफ़्टिनेन्ट गवर्नर को छूट है कि वह इस मामले पर सहानुभूति से विचार करे और उन्हें एक ख़ास 'ख़िलअत' भेंट करे तथा दरबार में उनकी कुर्सी का ओहदा भी बढ़ा दे। यह भी निर्णय किया गया कि सरकारी ख़र्च पर 'दस्तन्बू' को प्रकाशित करने से कोई लाभ नहीं होगा। इस प्रकार ग़ालिब की एक और उम्मीद पर पानी फिर गया।

इस बार ग़ालिब रामपुर में लगभग दस सप्ताह तक ठहरे और दिसम्बर 1865 के अंत में दिल्ली के लिए रवाना हुए। रास्ते में उनके साथ एक बडी दुर्घटना हो गई। बारिश होने से नदी में बाढ़ आई हुई थी। मुरादाबाद पहुंचने के पहले उन्हें नावों के एक पुल से होकर रामगंगा को पार करना था। वे पालकी में थे और उनका सारा सामान और नौकरचाकर बैलगाड़ियों में आ

रहे थे। वे पुल के पार पहुंचे ही थे कि एक तेज़ धारा में पूरा पुल बह गया। इस तरह वे अपने साथियों से अलग हो गए। बड़ी मुश्किल से वे अपने अगले पड़ाव मुरादाबाद पहुंच गए। जाड़े का मौसम था और रातें बेहद ठंडी थीं। गालिब के पास न तो कोई बिस्तर था और न कपड़े ही थे। इससे उनके पहले से ही बिगड़े स्वास्थ्य पर बुरा असर पड़ा और वे ज्यादा बीमार हो गए। दूसरे दिन सुबह खबर फैल गई कि गालिब कारवांसराय में ठहरे हैं। उस जगह का एक नायब जज उन्हें जानता था। वह उन्हें अपने घर लिवा लाया। उसने उनके इलाज का भी इन्तज़ाम किया और पांच दिन तक उनकी तीमारदारी भी की। जब वे थोड़े-बहुत यात्रा के योग्य हो गए अपने मार्ग पर आगे बढ़े और किसी तरह जनवरी १८६६ के पहले सप्ताह में दिल्ली पहुंचे।

इस दुर्घटना ने उनके स्वास्थ्य को बिल्कुल तोड़कर रख दिया। रामपुर की यात्रा उनके लिए आर्थिक दृष्टि से भी सफल सिद्ध हुई। इस कठिन यात्रा पर निकलने के पहले से ही उनका स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता था और वे दिल्ली से बाहर जाने के योग्य नहीं थे। परिस्थितियों से विवश होकर उन्हें यात्रा का खतरा मोल लेना था। उन पर कई आदमियों का काफी भारी कर्ज चढ़ गया था, और रामपुर से ही उन्हें कुछ सहायता की आशा हो सकती थी। नवाब कल्बअली खां खुद भी पढ़ा-लिखा आदमी था और कवियों और विद्वानों का बड़ा संरक्षक था। गालिब इतने सालों से रामपुर के दरबारी कवि थे तथा नवाब के स्वर्गीय पिता से उनका बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध था। इसके अलावा, रियासतों में तख्तपोशी के अवसर पर दरबार और शाही परिवार से सम्बद्ध लोगों को काफी इनाम और बख्शीश बांटने की प्रथा थी। इसलिए ग़ालिब के मन में ज़रूर यह आशा बंधी होगी कि सम्भव है उन्हें नवाब कल्बअली खां से इतनी काफी रकम मिल जाएगी, जिससे उनकी चिन्ताएं पूरी तौर से नहीं तो काफ़ी हद तक दूर हो जाएंगी। दूसरी ओर नवाब अपनी उदारता और अपने विद्या प्रेम के बावजूद पैसे खर्च करने के मामले में बहुत सावधान रहता था। काफ़ी बड़ी संख्या में लेखक और कवि उनके आसपास मंडराते रहते थे लेकिन उनमें से प्रत्येक के ज़िम्मे रियासत के प्रशासन का कोई न कोई काम सौंपा हुआ था, जिसके बदले में उन्हें तनख्वाह मिलती थी। केवल लेखक या कवि होने के नाते किसी को पैसे नहीं मिलते थे। इस स्थिति में ग़लिब का निराश होना स्वाभाविक था। उन्हें कोई बड़ा दान नहीं मिल सका और न उनके साथ कोई विशेष व्यवहार ही किया गया। तख्तपोशी के सिलसिले में कुल 1000 रुपये की मामूली-सी रकम उनके लिए मंजूर की गई और रवाना होने के ठीक पहले यात्रा-व्यय के रूप में 200 रुपये और दे दिए गए।

इतना ही नहीं, जब ग़ालिब दिल्ली लौट आए तो दोनों के बीच अनबन का एक कारण पैदा हो गया, जिसने आग में घी का काम किया। कुछ दिनों बाद नए नवाब ने ग़ालिब के पास फ़ारसी गद्य का एक टुकड़ा भेजा और अनुरोध किया कि उसे इस नज़र से देख दें कि क्या इसे एक किताब में दीबाचे (भूमिका) के रूप में सम्मिलित किया जा सकता है। नवाब ने अपनी पाण्डुलिपि में कुछ ऐसे मुहावरों का प्रयोग किया था, जो यद्यपि भारत में उस समय प्रचलित थे, लेकिन जिन्हें फ़ारसी के क्लासिकी लेखकों द्वारा व्यवहृत प्रयोगों के अनुसार शुद्ध नहीं माना जा सकता था। ग़ालिब ने उसमें आवश्यक परिवर्तन और संशोधन कर दिया। जब नवाब को उसकी संशोधित प्रति मिली तो उसने ग़ालिब से स्पष्टीकरण मांगते हुए कुछ प्रश्न पूछे और साथ ही अपने मत के समर्थन में फ़ारसी के कुछ भारतीय विद्वानों का हवाला दे दिया। ग़ालिब ने अपने जीवन भर फ़ारसी के भारतीय लेखकों को कोई महत्व नहीं दिया था, इसलिए उन्होंने

बड़ा अक्खड़-सा जवाब देते हुए नवाब की आपत्तियों को अस्वीकार कर दिया। लेकिन नवाब कुछ परम्परावादी व्यक्ति था। उसे गालिब का बात कहने का ढग और भाषा अच्छी नहीं लगी। दोनों के बीच एक दु:खद विवाद छिड गया। गालिब को कुछ घबराहट होने लगी। उन्हे डर था कि कहीं इससे उनका माहवारी वजीफ़ा बन्द न हो जाए। फलस्वरूप उन्होंने नवाब के आगे एक तरह से घुटने टेक दिए। उधर नवाब ने बात को उसके अन्त तक पहुचने की बजाय अचानक बीच में ही विवाद को समाप्त कर दिया। इस दुर्भाग्यपूर्ण घटना के बाद दोनों के बीच सहयोग और साहित्यिक विचार-विमर्श जारी रहने की सारी उम्मीदें खत्म हो गई। कुछ अन्य घटनाओं ने भी ग़लतफ़हमी को और बढ़ाने में मदद की। इसके बाद हर तरह का अतिरिक्त भत्ता बिल्कुल बन्द कर दिया गया, और आगे से दोनों के बीच प्रेम-सम्बन्ध की बजाय केवल एक औपचारिक सम्बन्ध ही बाकी रह गया।

अंत

अब ग़ालिब बड़ी तेज़ी से अपने जीवन की आखिरी मंजिल के पास पहुंचते जा रहे थे। एक लम्बे समय से उनका स्वास्थ्य खराब चला आ रहा था। रामपुर से वापसी की यात्रा में उनके साथ जो दुर्घटना हुई थी, उससे उनका स्वास्थ्य और भी गिर गया था। इसके अलावा आर्थिक कठिनाइयों के कारण से वे अपने रहन-सहन का स्तर भी पहले जैसा रखने की स्थिति में नहीं रह गए थे। अपने आरम्भिक और जवानी के दिनों में उन्होंने आराम और कुछ ऐश की ही ज़िन्दगी बिताई थी। बाद के वर्षों में उनकी आमदनी सिमटकर वही कुछ रह गई जो उन्हें ब्रिटिश खजाने से और रामपुर के नवाब से मिलता था। लेकिन इस बीच उनकी ज़िम्मेदारियां, खासतौर से ज़ैनुलआबिदीन खां के दोनों लड़कों के आ जाने से, कई गुना बढ़ गई थीं। अब उनको कई तरह की बीमारियों ने भी घेर लिया था। कब्ज़ के पुराने रोग के कारण कई तरह की शिकायते रहने लगी थीं। 1862 और 1863 मे सारे शरीर पर फोड़े निकल आने और नासूर हो जाने के कारण वे बेहद कमज़ोर हो गए थे। अभी वे इनसे कुछ मुक्त ही हुए थे कि उन्हें हर्निया हो गया और शायद मधुमेह की भी शिकायत हो गई। उनकी खुराक बहुत थोडी रह गई थी। अब अधिकाश समय वे घर में ही रहते थे। इन परिस्थितियों में किसी प्रकार का उस साहित्यिक गतिविधि की तो बात दूर रही जिसे उन्होंने जीवन-भर निभाया था, वे रोज़मर्रा की चिट्ठी-पत्री भी नहीं कर पाते थे। इसलिए उन्होंने दिल्ली के दो प्रमुख साप्ताहिक पत्रों मे यह सूचना छपवाई कि अब वे किसी प्रकार की साहित्यिक गतिविधि में भाग लेने में असमर्थ हैं, और उन्होंने अपने मित्रों और शागिर्दो से भी अनुरोध किया कि वे लोग अपनी रचनाए उनके पास संशोधन आदि के लिए न भेजा करें। लेकिन उनकी इस प्रार्थना पर किसी ने ध्यान नहीं दिया। उनके मित्र अब भी चिट्ठियां भेजते थे और उन्हें उनका उत्तर देना पड़ता था।

अब अन्त समीप ही था। कमजोरी बराबर बढती जा रही थी। उन्हें कभी-कभी बेहोशी के दौरे भी पडने लगे थे। अब वे खाने मे कोई ठोस चीज नहीं ले सकते थे। इसी हालत में 14 फरवरी 1869 को दिमाग की नस फट जाने से बेहोश हो गए। उस समय उपलब्ध सर्वोतम चिकित्सा से भी कोई लाभ नहीं हुआ, और दूसरे दिन 15 फरवरी 1869 को ठीक दोपहर बाद उनका देहान्त हो गया। उसी शाम उनका शव निज़ामुद्दीन नामक छोटे-से गांव में ले जाया गया, तथा वहां लोहारू खानदान की कब्रगाह में उन्हें दफ़ना दिया गया। इस प्रकार भारत का

यह अन्तिम क्लासिकी फ़ारसी कवि और महान् शायर इस दुनिया से उठ गया, जिसने उर्दू शायरी को एक नई शाहराह पर ला खड़ा किया था जिस पर चलकर बाद के लेखकों ने उसे बुलन्दियों पर पहुंचाया।

2
ग़ालिब की कला

ग़ालिब ने बहुत छोटी, लगभग 11 या 12 वर्ष की आयु से ही शायरी करना शुरू कर दिया था। आरम्भ में उन्होंने अपना तख़ल्लुस या उपनाम, 'असद' रखा था। यह उनके पूरे नाम असदुल्ला खां का ही एक अंश था। लेकिन कुछ समय बाद उन्हें पता चला कि इसी तख़ल्लुस से एक दूसरा शायर भी लिख रहा है। गड़बड़ी से बचने के लिए उन्होंने अपना तख़ल्लुस बदलकर 'ग़ालिब' रख लिया। इस नाम का चुनाव भी उनके लिए स्वाभाविक था, क्योंकि हज़रत मुहम्मद के दामाद अली की एक उपाधि असद अल्लाह अल्-ग़ालिब थी। यद्यपि इसका प्रमाण मौजूद है कि इन दिनों भी वे फ़ारसी में लिखते थे, लेकिन इसमें कोई सन्देह नहीं कि अपना अधिकांश समय वे उर्दू को दिया करते थे।

सन् 1816 तक उन्होंने इतनी काफ़ी शायरी लिख डाली थी कि उर्दू के अपने एक 'दीवान' का संकलन कर पाते। आरंभ के दिनों में कुछ ऐसे फ़ारसी शायरों का उन पर गहरा प्रभाव पड़ा जो अपनी बनावटी भाषा और अयथार्थवादी शैली के लिए प्रसिद्ध थे। ग़ालिब की इस काल की रचनाओं में भी ये खामियां मौजूद हैं। ऐसी बात नहीं थी कि किसी ने उनको इस निरर्थक मार्ग पर चलने से रोकने का प्रयास न किया हो लेकिन वे इतने हठी स्वभाव के मनमानी करने के आदी थे कि उन्होंने किसी प्रकार की विपरीत आलोचना की परवाह नहीं की। कई वर्ष बाद जब वे दिल्ली में जम गए तो उनके कुछ घनिष्ठ मित्रों ने उन पर ज़ोर डाला कि वे अपनी शैली में कुछ परिवर्तन करें और अपने उर्दू 'दीवान' में से ऐसी रचनाओं को चुन लें जो सामान्य पाठकों में लोकप्रिय सिद्ध हो सकती हैं। वे इस मैत्रीपूर्ण और निश्छल परामर्श की उपेक्षा नहीं कर सके और उन्होंने मूल 'दीवान' को अधिक पठनीय और विद्वत्तापूर्ण बनाने के उद्देश्य से उसका काफ़ी बड़ा अंश छांटकर निकाल दिया।

उनका यह 'दीवान' पहली बार 1841 में प्रकाशित हुआ था। इसका प्रकाशन वास्तव में उर्दू साहित्य के इतिहास में एक परिवर्तनकारी घटना सिद्ध हुआ। कुल 1,100 शेर की एक छोटी-सी किताब का उर्दू भाषा पर आमतौर से और उर्दू शायरी पर खासतौर से जो व्यापक असर पड़ा, उसे देखकर आश्चर्य होता है। इसके बाद ग़ालिब 28 वर्ष तक और जीवित रहे, लेकिन इस लम्बी अवधि के अन्त तक भी इस 'दीवान' के शेरों की संख्या 1,800 से अधिक नहीं हो सकी।

उर्दू अनेक भारतीय भाषाओं, विशेष रूप से खड़ी बोली और हरयाणवी की ही सीधी वारिस थी। परिणामस्वरूप, इसके शब्दभंडार का काफ़ी बड़ा अंश भारतीय सूत्रों से ही उद्भूत हुआ था। इसने फ़ारसी लिपि अपनायी, जो मुसलमानों के आगमन के साथ इस देश में प्रचलित हुई थी। उर्दू के आरंभिक शायर फ़ारसी के अच्छे जानकार थे और उनमें से अधिकांश धार्मिक रुचि के थे। जब उन्होंने उर्दू में लिखना शुरू किया तो स्वभावतः फ़ारसी के क्लासिकी लेखकों का अनुसरण किया। फ़ारसी शायरी के तीन प्रमुख रूप हैं— ग़ज़ल, क़सीदा और मसनवी।

शायरी के इन सभी प्रकारों और विशेष रूप से ग़ज़ल का विषय प्रेम, मदिरा और रहस्यवाद से ओतप्रोत होता है। इस प्रकार उर्दू शायरी के जन्म के पहले से ही शायरी के रूप और विषय के सम्बन्ध मे काफ़ी हद तक एक निश्चित धारणा बन गई थी। उर्दू शायर इन काव्य-प्रकारों और इनकी विषयवस्तु से बच नहीं सके, और उन्होंने इनका अनुकरण आरम्भ कर दिया।

इसीलिए उनकी शायरी बिल्कुल कृत्रिम और काल्पनिक होकर रह गई। इस सिलसिले में शायर का अपना अनुभव बहुत थोड़ा होता था। लेकिन इसके बावजूद वह एक अनुभवी और जानकार व्यक्ति की तरह लिखने की कोशिश करता था। इससे भी अधिक चिन्ता की बात तो यह थी कि जीवन की अन्य अनेक समस्याओं पर उर्दू शायरी में बहुत कम ध्यान दिया जा रहा था। प्रेम, मदिरा और रहस्यवाद अपने-आप में इतने महत्वपूर्ण विषय हो सकते हैं कि उन पर विचार किया जा सके, लेकिन केवल ये ही सम्पूर्ण जीवन नहीं है ओर न हो सकते हैं। इसका परिणाम यह हुआ कि हमारे सभी शायर अपनी बनायी हुई एक काल्पनिक दुनिया में ही रह जाते और शायद ही कभी इस धरती पर अपने पैर टिका पाते थे।

ग़ालिब इस स्थिति के विरुद्ध विद्रोह करने वाले पहले शायर थे। उन्होंने भी अपने पूर्वगामियो की भांति काल्पनिक और अयथार्थ विषयो पर लिखना शुरू किया था। लेकिन कुछ समय बाद उन्होने इस प्रकार के काव्य के खोखलेपन को समझ लिया तथा शायरी को अधिक युक्तिसंगत और सहज बनाने के उद्देश्य से उसमें एक नये स्वर को उभारने की कोशिश की। उन्होंने जीवन और इसकी बहुविध समस्याओं के बारे में, मानव तथा उसकी आस्था और उसके आन्तरिक भावों के बारे में, प्रेम तथा मनोवैज्ञानिक प्रभावों और प्रतिक्रियाओं के बारे में, तथा अन्य अनेक ऐसे विषयों के बारे में लिखा जो हम में से प्रत्येक के दैनिक अनुभव के विषय हैं। इस प्रकार उनके हाथों शायरी हमारे दैनिक अनुभव की व्याख्या बन गई। स्वभावतः इससे पाठक को अधिक आनन्द और अधिक गहरा सन्तोष प्राप्त हुआ। लेकिन यह भी स्वाभाविक था कि ग़ालिब अपने पूर्ववर्तियों द्वारा स्थापित दो सौ वर्षों की परंपरा से पूरी तरह से अपना सम्बन्ध नहीं तोड़ सके। हमें उनके 'दीवान' में उस अयथार्थवादी शायरी के उदाहरण मिलते हैं जो उन्हें पुराने शायरों से विरासत में मिली थी। उनकी महानता इस तथ्य में निहित है कि उन्होंने इस प्रकार के कल्पनावादी और भ्रमात्मक लेखन की निरर्थकता को पहचाना और इसका विरोध करते हुए एक नया मार्ग ढूंढ़ निकालने का साहस किया। पिछली शताब्दी के दौरान उर्दू शायरी में प्रशंसनीय सफलता प्राप्त की और बड़ी ऊंचाइयां हासिल की हैं। इसमें सन्देह नहीं कि इसका श्रेय बहुत-कुछ बाहरी दुनिया के साथ हमारे सम्पर्क को तथा पाश्चात्य भाषाओं और उनके साहित्य के हमारे ज्ञान को भी है। लेकिन हम यह नहीं भूल सकते कि सबसे पहले ग़ालिब ने ही पुराने बन्धनों को तोड़ा और हमारे लिए ज्ञान और विचार के एक अज्ञात संसार का मार्ग प्रशस्त किया।

आगे हम विभिन्न विषयों से संबद्ध ग़ालिब के विचारों और उनकी शायरी के कुछ नमूने उनके उर्दू के 'दीवान' से उद्धृत कर रहे हैं।

ईश्वर

मह्रम पे नहीं है तू ही नवाहा-ए-रोज़[2] का
यां वरना जो हिजाब[3] है, पर्दा है साज़ का

मुंह न खुलने पर, है वो आलम, कि देखा ही नहीं
ज़ुल्फ़ से बढ़कर, नक़ाब उस शोख़ के मुहं पर खुला

उसे कौन देख सकता, कि यगाना[4] है वह यकता[5]
जो दुई की बू भी होती, तो कहीं दुचार होता

न था कुछ, तो ख़ुदा था, कुछ न होता, तो ख़ुदा होता
डुबोया मुझको होने ने, न होता मैं तो क्या होता

परतवे-ख़ुर[6] से है शबनम को, फ़ना[7] की तालीम
मैं भी हूं, एक इनायत की नजर होने तक

है परे सरहदे-इदराक[8] से अपना मस्जूद[9]
क़िबले[10] को अहले-नज़र[11] क़िबला नुमा[12] कहते हैं

अराइशे-जमाल[13] से फ़ारिग नहीं हनोज़[14]
पेशे-नज़र है आइना दाइम[15] नक़ाब में

थक थक के, हर मुक़ाम प दो चार रह गये
तेरा पता न पायें, तो नाचार क्या करें

है वही बदमस्ति-ए-हरज़र्रा[16] का ख़ुद उज़्रख़्वाव[17]
जिसके जल्वे से ज़मीं ता.आसमां सरशार[18] है

---

1. मर्मज्ञ, राज़दार, 2. राज़ के सुर, चतुर्दिक व्याप्त रहस्य, 3. पर्दा, 4. अद्वितीय, 5. अनुपम, 6. सूर्य-दर्शन, 7. मृत्यु, 8. ज्ञान या बुद्धि की सीमा, 9. जिसको सिजदा किया जाए, पूज्य ईश्वर, 10. काबा, 11. पारखी, 12. संकेत-मात्र, 13. सौंदर्य का श्रृंगार, 14. अभी तक, 15. हमेशा, 16. प्रत्येक कण की उन्मत्तता, 17. उत्तरदायी, 18. परिपूर्ण, उन्मत्त।

अपनी हस्ती ही से हो जो कुछ हो
आगही[1], गर नहीं ग़फ़लत ही सही

कसरत आराइ-ए-वहदत[2] , है परस्तारि-ए-वहम[3]
कर दिया काफ़िर, इन असनामे-ख़याली[4] ने मुझे

हर चन्द हर एक शै[5] में तू है
पर तुझसी तो कोई शै नहीं है

धर्म

लताफ़त[6] बे कसाफ़त[7] जल्वा पैदा कर नहीं सकती
चमन ज़ंगार[8] है आईना-ए-बादे-बहारी[9] का

हम मुव्वहिद[10] हैं, हमारा केश[11] है, तर्के-रुसूम[12]
मिल्लतें[13] जब मिट गईं अज्ज़ा-ए-ईमां[14] हो गईं

ताअत[15] में तो, रहें न मैं-ओ-अंगबीं[16] की लाग
दोज़ख़ में डाल दो, कोई लेकर बहिश्त को

मिटता है फ़ोते-फ़ुर्सते-हस्ती[17] का ग़म कहीं
उम्रे-अज़ीज सर्फ़े-इबादत[18] ही क्यों न हो

वफ़ादारी, बशर्ते-उस्तवारी[19], अस्ले-ईमां[20] है
मरे बुतख़ाने में, तो काबे में गाड़ो ब्रह्मन को

सुनते हैं जो बहिश्त की तारीफ़, सब दुरुस्त
लेकिन ख़ुदा करे, वो तिरी जल्वागाह[21] हो

देते हैं, जन्नत, हयाते-दहर[22] के बदले
नश्शा बअन्दाज़ा-ए-ख़ुमार[23] नहीं है

हमको मालूम है, जन्नत की हक़ीक़त लेकिन
दिल के ख़ुश रखने को, 'ग़ालिब', यह ख़याल अच्छा है

नाकरदा[24] गुनाहों की भी हसरत की मिले दाद
या रब, अगर इन करदा[25] गुनाहों की सज़ा है

---

1. चेतना, 2. एकत्व की अनेकरूपता, 3. भ्रम की पूजा, 4. काल्पनिक प्रतिमाए, 5. वस्तु, पदार्थ, 6. (रूप)लालित्य, मृदुलता, 7. (अरूप) कठोरता, 8. आईने के पीछे का मोर्चा, 9. बसन्त के पवन का दर्पण, 10. एकेश्वरवादी 11. धर्म, 12. रीति-त्याग, 13. सम्प्रदाय, 14. आस्था के अश, 15. उपासना, 16. मदिरा और मधु, 17. जीवनावकाश का अन्त, 18. पूजा मे व्यतीत, 19. स्थायित्व की शर्त के साथ, 20. सत्य धर्म, 21. दर्शन-स्थल, 22. सांसारिक जीवन, 23. पिपासा के अनुरूप, 24. न किये हुए. 25. किये हुए ।

क्या फ़र्ज़ है, कि सबको मिले एक सा जवाब
आओ न, हम भी सैर करें कोहे-तूर[1] की

क्या ज़ुह्द[2] को मानूं, कि न हो गरचे रियाई
पादाशे-अमल[3] की तम-ए-ख़ाम[4] बहुत है

रहस्यवाद

मक़्सद है नाज़ो-ग़म्ज़ा[5], वले[6] गुफ़्तगू में, काम
चलता नहीं है दश्न-ओ-ख़ंजर कहे बिग़ैर

हरचन्द, हो मुशाहिद-ए-हक़[7] की गुफ़्तगू
बनती नहीं है, बादा-ओ-साग़र कहे बिग़ैर

अस्ले-शुहूदो-शाहिदो-मश्हूद[8A] एक है
हैरां हूं, फिर मुशाहिदा[8B] है किस हिसाब में

है मुश्तमिल[9] नुमूदे-सुवर[10] पर वुजूदे-बह्र[11]
यां क्या धरा है क़तर-ओ-मोजो-हबाब[12] में

है ग़ैब-ग़ैब[13], जिसको समझते हैं हम शुहूद[14]
हैं ख़्वाब में हनोज़, जो जागे हैं ख़्वाब में

हां, खाइयो मत फ़रेबे-हस्ती
हर चन्द कहें, कि है, नहीं है

बाज़ीच-ए-अत्फ़ाल[15] है दुनिया मेरे आगे
होता है शबो-रोज़ तमाशा, मेरे आगे

इक खेल है औरंगे-सुलेमां[16], मेरे नज़दीक
इक बात है, ऐजाज़े-मसीहा[17], मेरे आगे

जुज़[18] नाम, नहीं सूरते-आलम मुझे मंज़ूर
जुज़ वहम, नहीं हस्ति-ए-अशिया[19] मेरे आगे

1. वह पहाड़ जिस पर हज़रत मूसा ने ईश्वर का प्रकाश देखा था, 2. त्याग, संयम, निस्पृहता, 3. कर्म-फल, 4. झूठी अभिलाषा। 5. बांकपन और अनुरागपूर्ण चितवन, 6. परन्तु, 7. परमात्मा (सत्य) का पर्यवेक्षण, 8-A. दृश्य, 8-B. दर्शन द्रष्टा और दृश्यमान तत्वतः, 9. सम्मिलित (यहां, 'निर्भर'), 10. रूप और लक्षण, 11 समुद्र का अस्तित्व, 12. बूंद, लहर और बुलबुला, 13. परोक्ष का परोक्ष, 14. उपस्थिति, 15. बच्चों का खेल, 16. सुलेमान का राजसिंहासन, 17. ईसा का चमत्कार, 18. सिवाय, अतिरिक्त, 19. वस्तुओं का अस्तित्व।

ईमां मुझे रोके है, तो खेंचे है मुझे कुफ्र
काबा मेरे पीछे है, कालीसा[1] मेरे आगे

जीवन

तेशे[2] बिग़ैर मर न सका कोहकन[3], 'असद'
सरगश्त - ए - ख़ुमारे - रुसूमो - कुयूद[4] था

दह्‌ र में नक्शे-वफ़ा[5] वजहे-तसल्ली न हुआ
है वह वो लफ्ज, कि शर्मिन्द-ए-मानी[6] न हुआ

यह कहां की दोस्ती है, कि बने हैं दोस्त, नासेह[7]
कोई चारासाज़ होता, कोई ग़मगुसार होता

रगे-संग से टपकता, वो लहू, कि फिर न थमता
जिसे ग़म समझ रहे हो, यह अग़र शरार[8] होता

ग़म अगरचे जांगुसिल[9] है प कहां बचें, कि दिल है
ग़मे-इश्क़ गर न होता, ग़मे-रोज़गार होता

हिना-ए-पा-ए-ख़ज़ां[10] है, बहार अगर है यही
दवामे-कुलफ़ते-ख़ातिर[11] है ऐश दुनिया का

दरमान्दगी[12] में 'गालिब', कुछ बन पड़े तो जानूं
जब रिश्ता बेगिरह था, नाख़ुन गिरह कुशा था

हुआ जब ग़म से यूं बेहिस[13], तो ग़म क्या सर के कटने का
न होता गर जुदा तन से, तो ज़ानू[14] पर धरा होता

इशरते-क़तरा[14] दरिया में फना हो जाना
दर्द का हद से गुज़रना, है दवा हो जाना

हुआ हूं इश्क़ की ग़ारतगरी[15] से शर्मिन्दा
सिवाए हसरते-तामीर[16] घर में ख़ाक नहीं

---

1. गिरजाघर, 2. तेशा, कुदाल, 3. फ़रहाद, 4. रीति-रिवाज के मद में उन्मत्त, 5. वफा की तस्वीर, 6. सार्थक, 7. नसीहत करनेवाला, सदुपदेशक, 8. चिनगारी, 9. प्राण घातक, 10. पतझड़-परी के पाव की मेंहदी, 11. मन के क्लेश का स्थायित्व, 12. परेशानी, क्लेश, 13. स्तब्ध, चेतनाशून्य, 14. घुटना, 15. बूंद का आनन्द, 16. लूट, 17. निर्माण की अभिलाषा।

क़ैदे-हयातो-बन्दे ग़म[1], अस्ल में दोनों एक हैं
मौत से पहले, आदमी ग़म से नजात पाये क्यों

हसद[2] से दिल अगर अफ़सुर्दा है, गर्मे-तमाशा[3] हो
कि चश्मे-तंग[4], शायद, कसरते-नज़्ज़ारा[5] से वा हो

'ग़ालिब', कुछ अपनी सई[6] से लहना[7] नहीं मुझे
ख़िरमन[8] जले अगर न मलख़[9] खाये किश्त[10] को

न लुटता दिन को, तो कब रात को यों बेख़बर सोता
रहा खटका न चोरी का, दुआ देता हूं रहज़न को

जब मैकदा छुटा तो, फिर अब क्या जगह की क़ैद
मस्जिद हो, मदरसा हो, कोई ख़ानक़ाह[11] हो

किया ग़मख़्वार ने रुसवा, लगे आग इस मुहब्बत को
न लावे ताब जो ग़म की, वो मेरा राज़दां क्यों हो

क़फ़स[12] में, मुझसे रूदादे-चमन[13] कहते, न डर हमदम
गिरी है जिस पे कल बिजली, वो मेरा आशियां[14] क्यों हो

रहिये अब ऐसी जगह चलकर, जहां कोई न हो
हम सुख़न कोई न हो और हम ज़ुबां कोई न हो

बेदरो-दीवार सा इक घर बनाना चाहिये
कोई हमसाया[15] न हो और पासबां[16] कोई न हो

पड़िये गर बीमार, तो कोई न हो तीमारदार
और अगर मर जाइये, तो नौहा ख़्वां[17] कोई न हो

जी जले ज़ौक़े-फ़ना की नातमामी[18] पर न क्यों
हम नहीं जलते, नफ़स हरचन्द आतशबार[19] है

ख़ज़ां क्या, फ़स्ले-गुल[20] कहते हैं किसको, कोई मौसम हो
वही हम हैं, क़फ़स है, और मातम बालो-पर[21] का है

मक़दूर[22] हो तो ख़ाक से पूछूं कि ऐ लईम
तूने वो गंजहा-ए-गिरांमाया[23] क्या किये

न सुनो, गर बुरा कहे कोई
न कहो, गर बुरा करे कोई

1. जीवन की कारा और दुःख का बंधन, 2. ईर्ष्या, 3. तमाशे में लीन, 4. संकीर्ण दृष्टि, 5. दृश्यों का बाहुल्य, 6 प्रयत्न, 7. भाग्य में, 8. खलिहान, 9. टिड्डी, 10. खेती, 11. आश्रम, 12. पिंजरा, 13. चमन का हाल, 14. घोंसला, 15. पड़ोसी, 16. द्वारपाल, 17. रोनेवाला, 18. अपूर्णता, 19. आग बरसाने वाला, 20. बसन्त, 21. पंख, 22. सामर्थ्य, 23. अमूल्य निधियां।

रोक लो, गर ग़लत चले कोई
बख़्श दो, गर ख़ता करे कोई

कौन है, जो नहीं है हाजतमन्द[1]
किसकी हाजत रवा करे कोई

हज़ारों ख़्वाहिशें ऐसी, कि हर ख़्वाहिश प दम निकले
बहुत निकले मेरे अरमान लेकिन फिर भी कम निकले

ने तीर कमां में है, न सैयाद[2] कमीं[3] में
गोशे में क़फ़स के, मुझे आराम बहुत है

मानव

गिरनी थी हम प बर्क़े-तजल्ली, न तूर पर
देते हैं बादा, जर्फ़े-क़दह ख़्वार[4] देखकर

क़तरा अपना भी हक़ीक़त में है दरिया, लेकिन
हमको तक़लीदे-तुनुक ज़र्फ़ि-ए-मंसूर[5] नहीं

दोनों जहान देके, वो समझे, यह ख़ुश रहा
या आ पड़ी यह शर्म, कि तकरार क्या करें

क्या शम्अ के नहीं हैं हवाख़्वाह अ.ले-बज़्म[6]
हो ग़म ही जां-गुदाज़[7], तो ग़मख़्वा . क्या करें

सब कहां, कुछ लाल-ओ-गुल[8] में नुमायां[9] हो गईं
ख़ाक में क्या सूरतें होंगी, कि पिन्हा[10] हो गईं

याद थीं, हमको भी, रंगारंग बज़्म आराइयां[11]
लेकिन अब नक्शो-निगारे-ताक़े-निसिया[12] हो गईं

उतना ही मुझ को अपनी हक़ीक़त से बेद[13] है
जितना कि वह् मे-ग़ैर से हूं पेचो-ताब में

---

1. ज़रूरतमन्द, 2 शिकारी, 3. घात में, 4 मदिरा पीने वाले का साहस, 5. मंसूर के ओछेपन का अनुकरण, 6. महफिल वाले मित्र, 7. जान को पिघलाने वाला, 8. लाला और गुलाब के फूल, 9. प्रकट, 10. छिपी हुई, 11. हर्ष और ऐश्वर्य की महफ़िल जमाना, 12. विस्मृति के ताक़ मे बने बेल-बूटे, 13. दूरी।

जीवन-दर्शन

मिरी तामीर में मुज्मर[1], है इक सूरत ख़राबी की
हयूला[2] बर्क़े-खि़रमन[3] का है, ख़ूने-गर्म देहक़ा का

सरापा रेहने - इश्क़ो - नागुज़ीरे - उल्फते - हस्ती[4]
इबादत बर्क़ की करता हूं और अफसोस हासिल का

है, ख़याले-हुस्न मे हुस्ने-अमल का सा खयाल
खुल्द का इक दर है, मेरी गोर के अन्दर, खुला

बस कि दुश्वार है, हर काम का आसां होना
आदमी को भी मुयस्सर नहीं, इन्सां होना

हवस को है नशाते-कार[5] क्या क्या
न हो मरना तो जीने का मज़ा क्या

दिले-हर क़तरा है साज़े-अनलबहर[6]
हम उसके हैं, हमारा पूछना क्या

क़तरे में दजला[7] दिखाई न दे, और जुज़्व मे कुल
खेल लड़कों का हुआ, दीद-ए-बीना[8] न हुआ

जान दी, दी हुई उसी की थी
हक़ तो यह है, कि हक अदा न हुआ

तो फीक[9] बअन्दाज-ए-हिम्मत[10] है अज़ल[11] से
आंखों में है वो कतरा, कि गोहर न हुआ

है आदमी बजाए ख़ुद, इक महशरे-ख़याल[12]
हम अंजुमन समझते हैं, ख़ल्वत[13] ही क्यों न हो

रात दिन, गर्दिश में हैं सात आस्मां
हो रहेगा कुछ न कुछ, घबरायें क्या

उम्र भर देखा किए मरने की राह
मर गए पर देखिए, दिखलाएं क्या

---

1. छिपी हुई, 2. आकार, 3. खलिहान पर गिरने वाली बिजली, 4. पूर्णतया प्रेम में लीन होकर भी मुझे जीने की अनिवार्य अभिलाषा है, 5. कार्यानन्द, 6. अरबी वाक्य – 'मैं सत्य (ईश्वर) हूं', 7. समुद्र, नदी, 8. विवेक दृष्टि, 9 सामर्थ्य, 10. साहस के अनुसार, 11. अनादिकाल, 12. विचार-समूह, 13. एकान्त।

दामे-हर मौज में है, हल्क-ए-सदकाम निहंग[1]
देखें क्या गुज़रे है क़तरे प, गुहर होने तक

यह नजर बेश नहीं, फुर्सते-हस्ती ग़ाफिल
गर्मि-ए-बज्म[2] है, इक रक्से-शरर[3] होने तक

ग़मे-हस्ती का, 'असद' किससे हो जुज़ मर्ग[4] इलाज
शम्अ हर रंग में जलती है सहर होने तक

की वफा हम से, तो ग़ैर उसको जफा[5] कहते हैं
होती आई है, कि अच्छों को बुरा कहते हैं

रौ में हैं रख्शे[6]-उम्र, कहां देखिए, थमे
नै[7] हाथ बाग पर है न पा है रिकाब में

अहले-वीनश[8] को, तूफो-हवादिस[9], मकतब[10]
लतम-ए-मौज[11] कम अज़ सैलि-ए-उस्ताद[12], नहीं

रंज से खूगर[13] हुआ इंसां, तो मिट जाता है रंज
मुश्किलें मुझ पर पड़ीं इतनी, कि आसां हो गईं

हंगाम - ए - ज़बूनि - ए - हिम्मत[14] है इंफआल[15]
हासिल न कीजे दहर से, इबरत[16] ही क्यों न हो

कार गाहे-हस्ती[17] में लाला दाग़ सामा है
बर्के-खिरमने-राहत[18], खूने-गर्मे-दहक़ा[19] है

क़तरा दरिया मे जो मिल जाय, तो दरिया हो जाय
काम अच्छा है वो, जिसका कि मआल[20] अच्छा है

एक हंगामे प मौकूफ़[21], है घर की रौनक़
नौह-ए-गम[22] ही सही, नग़्म-ए-शादी न सही

रहा आबाद आलम, अहले-हिम्मत के न होने से
भरे हैं जिस कदर जामो-सुबू[23], मैख़ाना[24] ख़ाली है।

हैं अहले-ख़िरद[25] किस रविशे-खास[26] प नाज़ां
पा बस्तगि - ए - रस्मो - रहे - आम[27] बहुत है

नज़र में है हमारी जाद-ए-राहे-फना[28] 'ग़ालिब'
कि यह शीराज़ा[29] है, आलम के अज्ज़ा-ए-परीशां[30] का

---

1. शतमकर-मुख-वृत्त, 2. महफ़िल की गर्मी, 3 चिनगारी का नृत्य, 4. मृत्यु के अतिरिक्त, 5 अन्याय, जुल्म, 6. रख्श-अश्व, 7. न तो, 8. आंख वाले, बुद्धिमान, 9. विपत्तियों का तूफान, 10. पाठशाला, 11. लहरों का थपेडा, 12. गुरु के तमाचे से कम, 13. आदी, अभ्यस्त, 14. कम हिम्मती की अधिकता, 15. लज्जा, 16. शिक्षा, 17. अस्तित्व का कार्यक्षेत्र, 18. सुख-चैन के खलिहान पर गिरने वाली बिजली, 19. किसान का गर्म खून, 20. अन्त, परिणाम, 21. निर्भर, 22. दुःखो का विलाप, 23. मधुपात्र और मधुकलश, 24. मदिरालय, 25. बुद्धिमान, 26. विशेष आचरण, 27. सामान्य रीति-रिवाज का बन्धन, 28. मृत्यु-मार्ग, 29. तारतम्य, 30. बिखरे हुए टुकड़े।

प्रेम

कहते हो, न देंगे हम, दिल अगर पड़ा पाया
दिल कहां, कि गुम कीजे, हमने मुद्दआ[1] पाया

इश्क़ से, तबीयत ने, ज़ीस्त[2] का मज़ा पाया
दर्द की दवा पाई, दर्दे-बेदवा पाया

सादगी-ओ-पुरकारी[3], बेख़ुदी - ओ - हुशियारी
हुस्न को तग़ाफ़ुल[4] में, जुरअत-आजमा[5] पाया

बू-ए-गुल, नाल-ए-दिल, दूदे-चिराग़े-महफ़िल[6]
जो तेरी बज़्म से निकला, सो परीशां निकला

मैंने चाहा था कि अन्दोहे[7]-वफ़ा से छूटूं
वो सितमगार मेरे मरने प भी राजी न हुआ

किया आईना-ख़ाने का वो नक्शा, तेरे जलवे ने
करे, जो परतवे-ख़ुर्शीद[8], आलम शबनमिस्तां का

ताराजे-काविशे-ग़मे-हिज्रां[9] हुआ, 'असद'
सीना, कि था दफीना[10] गुहरहा-ए-राज़[11] का

वाए दीवानगि-ए-शोक़[12], कि हरदम मुझ को
आप जाना उधर, और आप ही हैरां होना

की मिरे क़त्ल के बाद, उसने जफा से तौबा
हाय, उस ज़ूद पशेमां[13] का पशेमां होना

वेनियाज़ी[14] हद से गुज़री, बन्दा परवर कब तलक
हम कहेंगे हाले-दिल, और आप फरमायेंगे क्या

गर किया नासेह ने हमको कैद, अच्छा यूं सही
ये जुनूने-इश्क़ के अन्दाज़ छुट जायेंगे क्या

ये न थी हमारी क़िस्मत, कि विसाले-यार[15] होता
अगर और जीते रहते, यही इन्तिज़ार होता

कोई मेरे दिल से पूछे, तेरे तीरे-नीमकश[16] को
यह ख़लिश[17] कहां से होती, जो जिगर के पार होता

---

1. अर्थ. तात्पर्य, 2. जीवन, 3. चालाकी, 4. बेरुखी, 5. साहस का परीक्षक, 6. महफ़िल के दीपक का धुआं, 7. प्रेम निभाने का कष्ट, 8. प्रभाकर प्रतिबिम्ब, 9. वियोग दुःख से तबाह, 10. कोषागार, 11. रहस्य-रूपी रत्न, 12. आकांक्षाओं का चक्कर, 13. जल्द पछताने वाला, 14. निस्पृहता, उपेक्षा, 15. प्रिय मिलन, 16. अधखिंचा तीर, 17. चुभन, वेदना।

बला-ए-जां है, 'ग़ालिब', उसकी हर बात
इबारत[1] क्या, इशारत[2] क्या, अदा[3] क्या

दर्द मिन्नतकशे-दवा[4] न हुआ
मैं न अच्छा हुआ, बुरा न हुआ

गो मैं रहा रहीने-सितमहा-ए-रोज़गार[5]
लेकिन तिरे ख़्याल से ग़ाफ़िल नहीं रहा

लाग हो, तो उसको हम समझें लगाव
जब न हो कुछ भी, धोका खायें क्या !

बहरा हूं मैं, तो चाहिए दूना हो इल्तिफ़ात[6]
सुनता नहीं हूं बात, मुकर्रर[7] कहे बिग़ैर

आह को चाहिए इक उम्र, असर होने तक
कौन जीता है तेरी ज़ुल्फ के सर होने तक

हमने माना, कि तग़ाफ़ुल न करोगे, लेकिन
ख़ाक हो जायेंगे हम, तुमको ख़बर होने तक

कब से हूं, क्या बताऊं, जहाने-ख़राब में
शबहा-ए-हिज्र[8] को भी रखूं गर हिसाब में

क़ासिद[9] के आते आते, ख़त इक और लिख रखूं
मैं जानता हूं, जो वो लिखेंगे जवाब में

मुझ तक कब, उनकी बज़्म में, आता था दौरे-जाम
साक़ी ने कुछ मिला न दिया हो शराब में

लाखों लगाव, एक चुराना निगाह का
लाखों बनाव, एक बिगड़ना इताब[10] में

ख़्वाहिश को, अहमक़ों ने, परस्तिश[11] दिया क़रार
क्या पूजता हूं उस बुते-बेदादगर[12] को मैं

नाला जुज़ हुस्ने-तलब[13], ऐ सितम ईजाद[14], नहीं
है तक़ाजा-ए-जफा[15] शिकव-ए-बेदाद[16] नहीं

वो आयें घर में हमारे, ख़ुदा की कुदरत है
कभी हम उनको, कभी अपने घर को देखते हैं

1. बात, 2. संकेत, 3. भाव-भंगिमा, 4 दवा का आभारी, 5. संसार के अत्याचार का शिकार, 6. कृपा, प्रेम, 7. दुबारा, 8. बिरह की रातें, 9 पत्र-वाहक, 10. क्रोध, 11. पूजा, आराधना, 12. ज़ालिम, माशूक़, 13. मांगने की ख़ूबी, 14. ज़ालिम, 15. ज़ुल्म करने का तक़ाज़ा, 16. ज़ुल्म की शिकायत।

सब रक़ीबों से हों नाख़ुश, पर ज़नाने-मिस्र[1] से
है ज़ुलैख़ा ख़ुश, कि महूवे-माह-ए-कन्आन्[2] हो गईं

नीदं उसकी है, दिमाग़ उसका है, रातें उसकी हैं
तेरी ज़ुल्फें, जिसके बाज़ू पर, परीशां हो गईं

बे इश्क़ उम्र कट नहीं सकती है, और यां
ताक़त बक़द्रे-लज़्ज़ते-आज़ार[3] भी नहीं

हां वो नहीं ख़ुदा परस्त, जाओ वो बेवफा सही
जिसको हो दीनो-दिल अज़ीज़, उसकी गली में जाये क्यों

वारस्ता[4] इससे हैं, कि मुहब्बत ही क्यों न हो
कीजे हमारे साथ, अदावत ही क्यों न हो

है मुझको तुझसे तज़किर-ए-ग़ैर[5] का गिला
हर चन्द बर सबीले-शिकायत[6] ही क्यों न हो

जान कर कीजे तग़ाफ़ुल कि कुछ उम्मीद भी हो
यह निगाहे-ग़लत-अन्दाज़[7] तो सम[8] है हमको

किसी को देके दिल कोई नवा संजे-फ़ुग़ां[9] क्यों हो
न हो जब दिल ही सीने में, तो फिर मुंह में ज़ुबां क्यों हो

वो अपनी ख़ू[10] न छोड़ेंगे, हम अपनी वज़्अ[11] क्यों बदलें
सुबुक सर[12] बन के क्या पूछें कि हमसे सरगिरां[13] क्यों हो

वफा कैसी, कहां का इश्क़, जब सर फोड़ना ठहरा
तो फिर, ऐ संग दिल, तेरा ही संगे-आस्तां क्यों हो

न करता काश नाला, मुझ को क्या मालूम था हमदम
कि होगा बाइसे - अफ़ज़ाइशे - दर्दे -दरूं[14] वो भी

मिरे दिल में है, 'ग़ालिब', शौक़े-वस्लो-शिकव-ए-हिजरां[15]
ख़ुदा वो दिन करे, जो उससे मैं यह भी कहूं, वो भी

'ग़ालिब', तिरा अहवाल सुना देंगे हम उनको
वो सुन के बुलालें, यह इजारा नहीं करते

मुझसे मत कह, तू हमें कहता था अपनी जिन्दगी
ज़िन्दगी से भी मिरा जी इन दिनों बेज़ार है

---

1. मिस्र की स्त्रियां, 2. कन्आन् के चन्द्रमा—यूसुफ़—पर मुग्ध, 3. विष-पान का आनन्द उठाने योग्य, 4. बेपरवाह, 5. ग़ैर (प्रतिद्वन्द्वी) का जिक्र, 6. शिकायत के तौर पर, 7. अनजान निगाह, 8. ज़हर, 9. फरयादी, 10. आदत, 11. स्वाभिमान, 12. हल्का, 13. रुष्ट, 14. आन्तरिक दु:ख में वृद्धि का कारण, 15. मिलन की कामना तथा विरह की शिकायत का शौक़।

क़त्अ कीजे न तअल्लुक़ हम से
कुछ नहीं है, तो अदावत ही सही

हम भी दुश्मन तो नहीं हैं अपने
ग़ैर को तुझसे मुहब्बत ही सही

देखना क़िस्मत, कि आप अपने प रशाक आ जाये है
मैं उसे देखूं, भला कब मुझसे देखा जाये है

हाथ धो दिल से, यही गर्मी गर अन्देशो में है
आबगीना[1] तुन्दि-ए-सहबा[2] से पिघला जाये है

गरचे है तर्ज़े-तग़ाफ़ुल[3], पर्दादारे-राज़ें-इश्क[4]
पर हम ऐसे खोये जाते हैं, कि वो पा जाये है

तस्कीं को हम न रोयें, जो ज़ौक़े-नज़र[5] मिले
हूराने - खुल्द[6] में तेरी सूरत मगर मिले

अपनी गली में, मुझको न कर दफ़्न, बादे क़त्ल
मेरे पते से ख़ल्क़[7] को क्यों तेरा घर मिले

ऐ साकिनाने - कूच - ए - दिलदार[8] देखना
तुमको कहीं जो 'ग़ालिबे'-आशुफ़्ता सर[9] मिले

आतशे - दोजख़ में, यह गर्मी कहां
सोज़े-ग़महा-ए-निहानी[10] और है

बारहा देखी हैं उनकी रंजिशें
पर कुछ अब के सर गिरानी[11] और है

ने मुशद-ए-विसाल[12] न नज़्ज़ार-ए-जमाल[13]
मुद्दत हुई, कि आश्ति-ए-चश्मो-गोश[14] है

हुस्ने-मह[15], ग़रचे बहंगामे-कमाल[16], अच्छा है
उससे मेरा महे-खुर्शीद जमाल[17] अच्छा है

उनके देखे से, जो आ जाती है मुंह पर रौनक़
वो समझते हैं कि बीमार का हाल अच्छा है

---

1. शीशे का पात्र (दिल), 2. शराब की तेज़ी, 3. बेपरवाही की अदा, 4. प्रेम के भेद को छिपानेवाला, 5. दर्शानानन्द, 6. स्वर्ग की अप्सराएं, 7. ज़गत, 8. माशूक़ की गली में बसने वालो, 9. सरफिरा ग़ालिब, 10. आन्तरिक सन्ताप की जलन, 11. अप्रसन्नता, 12. प्रियमिलन का शुभ सन्देश, 13. भव्य रूप का दर्शन, 14. आंखों और कानों को शांति, मैत्री, 15. चन्द्रमा का सौन्दर्य, 16. पूर्णिमा के समय, 17. सूर्य-रूपी चन्द्रमो।

न हुई गर मिरे मरने से तसल्ली, न सही
इम्तिहां और भी बाक़ी हो, तो यह भी न सही

है वस्ल हिज्र, आलमे, तमकीनो- ज़ब्त[1] में
माशूके-शोख़-ओ-आशिके-दीवाना[2] चाहिये

उस लब से मिल ही जायगा बोसा कभी तो, हां
शौके-फ़ुजूल-ओ-जुरअते-रिन्दाना[3] चाहिये

वो आके ख़्वाब में, तस्कीने-इज़्तिराब[4] तो दे
वले मुझे तपिशे-दिल[5] मजाले-ख़्वाब[6] तो दे

दिया है दिल अगर उसको, बशर है, क्या कहिये
हुआ रक़ीब, तो हो, नामाबर है, क्या कहिये

मुहब्बत में नहीं है फ़र्क़, जीने ओर मरने का
उसी को देखकर जीते हैं, जिस काफ़िर पे दम निकले

ख़ुदी

यह लाशे-बेकफन, 'असदे'-ख़स्ता जां[7] की है
हक़ मग़फिरत[8] करे, अजब आज़ाद मर्द था

ख़मोशी में निहां, खूंगश्ता[9] लाखों आरज़ूएं हैं
चराग़े-मुर्दा[10] हूं, मैं बेज़ुबां, गोरे-ग़रीबा का[11]

दोस्त ग़मख़्वारी में मेरी, सइ फरमायेंगे क्या
ज़ख़्म के भरने तलक, नाख़ुन न वढ़ जायेंगे क्या

हज़रते-नासेह गर आयें, दीद-ओ-दिल फर्शे-राह
कोई मुझको यह तो समझा दो, कि समझायेंगे क्या

तेरे वादे पर जिये हम, तो यह जान, झूट जाना
कि ख़ुशी से मर न जाते, अगर एतिबार होता

ये मसाइले-तसव्वुफ[12], यह तिरा बयान, 'ग़ालिब'
तुझे हम वली समझते, जो न बादाख़्वार[13] होता

---

1. रख-रखाब और सयम, 2. शोख, माशक और दीवाना, आशिक़, 3. असीम शौक़ और मस्ती का स्वच्छन्द साहस, 4. व्याकुलता में सान्त्वना, 5. मन की तपन, 6. सोने का साहस, 7. थके-हारे गालिब, 8. मोक्ष, मुक्ति, 9. अपूर्ण, 10. बुझा दिया, 11. ग़रीब की क़ब्र, 12. तसव्वुफ़ (वेदान्त) का विषय, 13 शराबी।

बन्दगी में भी, वो आज़ाद-ओ-खुदबीं[1] हैं, कि हम
उल्टे फिर आये, दरे-काबा अगर वा[2] न हुआ

हुई मुद्दत, कि 'ग़ालिब' मर गया, पर याद आता है
वो हर इक बात पर कहना, कि यूँ होता, तो क्या होता

रेख़्ते[3] के तुम्हीं उस्ताद नहीं हो, 'ग़ालिब'
कहते हैं, अगले ज़माने में कोई 'मीर' भी था

ज़िक्र उस परीवश[4] का, और फिर बयां[5] अपना
बन गया रक़ीब आख़िर, था जो राजदां अपना

मंज़र[6] इक बलन्दी पर, और हम बना सकते
अर्श[7] से इधर होता, काश कि मकां अपना

हम कहां के दाना थे, किस हुनर में यक्ता थे
बे सबब हुआ 'ग़ालिब', दुश्मन आस्मां अपना

पूछते हैं वो, कि 'ग़ालिब' कौन है
कोई बतलाओ कि हम बतलायें क्या

शम्अ बुझती है, तो उसमें से धुआं उठता है
शोल-ए-इश्क़ सियह पोश[8] हुआ, मेरे बाद

कौन होता है हरीफ़े-मै-ए-मर्द अफगने-इश्क़[9]
है मुकर्रर लबे - साक़ी प सला[10], मेरे बाद

कहते हैं, जब रही न मुझे ताक़ते सुख़न[11]
जानूं किसी के दिल की मैं क्योंकर, कहे बिग़ैर

गर तुझ को है यक़ीने-इजाबत[12] दुआ न मांग
यानी बिग़ैर-यक दिले-बे मुद्दआ[13], न मांग

आता है दाग़े-हसरते-दिल का शुमार याद
मुझसे मेरे गुनह का हिसाब, ऐ खुदा न मांग

लूं वाम[14] बख़्ते-खुफ्ता[15] से, यक ख़्वाबे-खुश[16], वले[17]
'ग़ालिब', यह ख़ौफ है, कि कहां से अदा करूं

---

1. स्वदर्शी और स्वच्छन्द, 2. खुला हुआ, 3 उर्दू शायरी, 4 अप्सरा रूपी, 5. वर्णन शैली, 6. सैरगाह, 7. आकाश का उच्चतम स्थल, ऐश्वरीय बुलन्दी, 8 मातमी (काले) कपडे पहने, 9. मर्दो को चित्त करने वाली सराब प्रेम मदिरा के मुकाबिल, 10 आवाहन, निमत्रण, 11 वाकशक्ति, 12. प्रार्थना स्वीकृति का विश्वास, 13 प्रार्थना विरहित हृदय, 14. उधार, 15. सुप्त भाग्य, 16. मीठे स्वप्न, 17. लेकिन।

अपने प कर रहा हूं क़्यास, अहले-दह्र का
समझा हूं दिलपज़ीर[1], मता-ए-हुनर[2] को मैं

या रब[3], ज़माना मुझको मिटाता है किसलिये
लोहे-जहां[4] प हर्फ़े - मुकर्रर[5] नहीं हूं मैं

दिल ही तो है, न संगो-ख़िश्त[6] दर्द से भर न आये क्यों
रोयेंगे हम हज़ार बार, कोई हमें सताये क्यों

दैर नहीं, हरम नहीं, दर नहीं, आस्तां नहीं
बैठे हैं रहगुज़र[7] प हम, कोई हमें उठाये क्यों

वां वो गुरूर-इज़्ज़ो-नाज[8] यां यह हिजाबे-पासे-वज़्अ[9]
राह में हम मिलें कहां, बज़्म में वो बुलाये क्यों

हम भी तस्लीम की ख़ू[10] डालेंगे
बे नियाज़ी तिरी आदत ही सही

नसिय-ओ-नक्दे-दो आलम[11] की हक़ीक़त मालूम
ले लिया मुझसे, मिरी हिम्मते-आली[12] ने मुझे

तुमको भी हम दिखायें, कि मजनूं ने क्या किया
फ़ुर्सत कशाकशे - ग़मे - पिन्हां[13] से गर मिले

हो चुकीं, 'ग़ालिब', बलायें सब तमाम
एक मर्गे - नागहानी[14] और है

ज़िन्दगी अपनी जब इस शक्ल से गुज़री, 'ग़ालिब'
हम भी क्या याद करेंगे, कि ख़ुदा रखते थे

रखता फिरूं हूं ख़िरक़-ओ-सज्जादा[15] रहने-मै[16]
मुद्दत हुई है, दावते-आबो-हवा[17] किये

होगा कोई ऐसा भी, कि 'ग़ालिब' को न जाने
शाइर तो वो अच्छा है, प बदनाम बहुत है

---

1. दिलपसन्द, 2. कला सम्पत्ति, 3. हे भगवान, 4. संसार रूपी पृष्ठ, 5. दुबारा लिखा गया अक्षर, 6. ईंट-पत्थर, 7. रास्ता, 8. हाव-भाव का गर्व; शान और नाज़ का गुरूर, 9. रख-रखाव का ध्यान, 10. आदत, 11. दोनों लोकों का उधार और नक़द, 12. महान् साहस, 13. आन्तरिक दुःखों की खेचातानी, 14. आकस्मिक मृत्यु, 15. कन्धा, गुदडी और नमाज़ पढ़ने का वस्त्र या आसन (जानमाज़), 16. शराब के लिए गिरवी, 17. वसन्त ऋतु की दावत।

बहार

फिर इस अन्दाज़ से बहार आई
कि हुए मेह्‌रो-मह[1] तमाशाई

देखो ऐ साकिनाने-ख़ित्त-ए-ख़ाक[2]
इसको कहते हें आलम आराई[3]

कि जमीं हो गई है सर ता सर[4]
रुकशे - सतहे - चर्खे - मीनाई[5]

सब्ज़े को जब कहीं जगह न मिली
बन गया रू-ए-आब पर काई

सब्ज़-ओ-गुल के देखने के लिए
चश्मे-नरगिस को दी है बीनाई[6]

है हवा में शराब की तासीर
बादा नोशी[7] है बाद पैमाई[8]

वसीयत

ऐ ताज़ा वारिदाने-बिसाते-हवा-ए-दिल[9]
ज़िन्हार[10], अगर तुम्हें हवसे-नाओ-नोश[11] है

देखो मुझे, जो दीद-ए-इबरत निगाह[12] हो
मेरी सुनो, जो गोशे-नसीहत नियोश[13] है

साक़ी, बजल्वा दुश्मने - ईमानो - आगही[14]
मुतरिब[15], बनग्मा, रहज़ने-तमकीनो-होश[16] है

या शब को देखते थे, कि हर गोश-ए-बिसात[17]
दामाने - बाग़बानो - कफे - गुलफरोश[18] है

---

1. चन्द्र और सूर्य, 2. धरती के वासियो, 3. विश्व-श्रृंगार, 4. एक सिरे से दूसरे सिरे तक, 5. नीले नभ का प्रतिबिम्ब, 6. दृष्टि, 7. मदिरा-पान, 8. व्यर्थ, 9. रंगरेलियां मनाने का नया शौक़ रखने वालो, 10. सावधान, 11. राग-रंग की वासना, 12. पराये अनुभव से शिक्षा-ग्रहण करने वाली आंख, 13. सदुपदेश सुनने वाले कान, 14. धर्म और ज्ञान का हरण करने वाला, 15. संगीतकार, 16. प्रतिष्ठा और बुद्धि का लुटेरा, 17. फ़र्श का एक-एक कोना, 18. माली की डाली और फूल बेचने वाले की हथेली।

लुत्फे-ख़िरामे साक़ी-ओ-जौक़े सदा-ए-चंग[1]
यह जन्नते-निगाह, वो फिरदोसे-गोश[2] है

या सुब्ह दम जो देखिये आकर, तो बज़्म में
न वो सुरूरो-सोज़[3], न जोशो-ख़रोश है

दाग़े-फिराक़े-सोहबते-शब[4] की जली हुई
इक शम्अ रह गई है, सो वो भी ख़मोश है

आते हैं ग़ैब[5] से, ये मज़ामीं-ख़याल में
'ग़ालिब', सरारे-ख़ामा[6] नवा-ए-सरोश[7]

विविध

देखना तक़दीर की लज़्ज़त, कि जो उसने कहा
मैंने यह जाना, कि गोया[8] यह भी मेरे दिल में है

साक़ीगरी की शर्म करो आज, वरना हम
हर शब पिया ही करते हैं मै, जिस क़दर मिले

तुझसे तो कुछ कलाम नहीं, लेकिन ऐ नदीम[9]
मेरा सलाम कहियो, अगर नामाबर[10] मिले

लाज़िम नहीं, कि ख़िज्र[11] की हम पैरवी करें
जाना कि इक बुज़ुर्ग हमें हमसफर मिले

ज़ुल्मत कदे में मेरे, शबे-ग़म, का जोश है
इक शम्अ है दलीले-सहर, सो ख़मोश है

और बाज़ार से ले आये, अगर टूट गया
साग़रे[12]-जम से मिरा जामे-सिफाल[13] अच्छा है

पुर हूं[14] मैं शिकवे से यों, राग से जैसे बाजा
इक ज़रा छेड़ियें फिर देखिये, क्या होता है

---

1. साकी की मथर गति का सौन्दर्य और चंग की मधुर ध्वनि का आनन्द, 2. कानों में बसा हुआ स्वर्ग, 3. ख़ुशी और गर्मी, 4. रात की महफ़िल के विरह का दाग़, 5. अदृश्य लोक, 6. क़लम की आवाज, 7. देवदूत की वाणी, 8. मानो, 9. साथी, 10. पत्रवाहक, 11. एक पैग़म्बर का नाम जो भूलने वालों को रास्ता बताते हैं, 12. ईरान के जमशेद नामक बादशाह का प्याला, 13. मिट्टी का मधुपात्र, 14. भरा हुआ।

जिस ज़ख़्म की हो सकती हो तदबीर, रफ़ू की
लिख दीजिये, या रब, उसे क़िस्मत में अदू[1] की

मुनहसिर[2] मरने प हो, जिसकी उमीद
नाउदी उसकी, देखा चाहिये

यह ज़िद, कि आज न आये और आये बिन न रहे
क़ज़ा[3] से शिकवा हमें किस क़दर है, क्या कहिये

यह फितना, आदमी की ख़ाना वीरानी[4] को क्या कम है
हुए तुम दोस्त जिसके, दुश्मन उसका आस्मां क्यों हो

शर - ओ - आईन[5] पर मदार[6] सही
ऐसे क़ातिल का क्या करे कोई

बात पर वां ज़बान कटती है
वो कहें और सुना करे कोई

कहां मैख़ाने का दरवाजा, 'ग़ालिब' और कहां वाइज़[7]
पर इतना जानते हैं, कल वो जाता था, कि हम निकले

'ग़ालिब', बुरा न मान, जो वाइज़ बुरा कहे
ऐसा भी कोई है, कि सब अच्छा कहें जिसे

कहते हुए साक़ी से हया आती है, वरना
है यों कि मुझे दुर्दे-तहे-जाम[8] बहुत है

मुझको दयारे-ग़ैर[9] में मारा, वतन से दूर
रखली मिरे ख़ुदा ने, मिरी बेकसी, की शर्म

---

१. दुश्मन, २. निर्भर, ३. मृत्यु, ४. घर उजाड़ देने, ५ विधि के विधान और राज्य-नियम, ६. आधार, ७. धर्मोपदेशक, ८. मधुपात्र में मदिरा की तलछट, ९. विदेश।